पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 37 नवम्बर-दिसम्बर, 2011

संपादक

भारत भारद्वाज

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता
अंक : 37 नवम्बर-दिसम्बर, 2011

प्रकाशक :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

प्रकाशन प्रभारी :
डॉ. बीर पाल सिंह यादव
email : bpsjnu@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 09272132803

प्रचार प्रसार :
दान सिंह नेगी
e-mail : dansnegi@hindivishwa.org
फोन : 07152-232943 मो. : 09665145282

© संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ₹ 20
वार्षिक सदस्यता : ₹ 120
चेक/ड्रॉफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक ₹ 145 और द्वैवार्षिक ₹ 265। म.गां.अं.हिं.वि. का दिल्ली केंद्र अब बंद हो गया है इसलिए पत्रिका प्राप्ति के लिए पाठक अब सीधे वर्धा मुख्यालय से संपर्क करें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232200, 232306

संपादकीय संपर्क : (नया पता)
211, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
मो.-09313034049 (संपादकीय)
टेली.-011-42151470

PUSTAK-V̄ARTĀ
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Manas Mandir, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (09212796256)

आवरण-सज्जा : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय : धरोहर	: **बाबू चिंतामणि घोष**/पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	4
रचनात्मक प्रस्तुति	: **अवस बांचिए, बांचन जोगू**/प्रेमशीला शुक्ल	8
उपन्यास	: **पतिया : स्त्री-विमर्श की सबसे पहली सबसे सशक्त बानगी**/शंभु गुप्त	10
	: **स्वातंत्र्य की तलाश का भटकाव**/श्यामसुंदर दुबे	12
कहानी	: **स्त्री चेतना के नए स्वर का आगाज**/ सुनीता गुप्ता	15
	: **दिव्या माथुर की कहानियां**/ संगम पांडेय	17
	: **रोजमर्रा की आबोहवा में बहता शीतल मंद बयार**/ नीलाभ कुमार	19
कविता	: **अशेष संभावनाओं का प्रतिरोध**/ प्रमोद चतुर्वेदी	21
आलोचना	: **सच को सच की तरह कहना कठिन है**/ सुभाष शर्मा	23
व्यंग्य	: **सत्ता एवं समाज की नब्ज पर उंगली**/ राजीव कुमार	40
मानवाधिकार	: **मानवाधिकारों पर एक उल्लेखनी कृति**/ जवाहर पांडेय	42
देशांतर	: **चढ़ी जवानी बुड्ढे नूं!**/ द्रोणवीर कोहली	44
सात समंदर पार	: **जकीया जुबैरी की कहानी 'मन की सांकल' का अंतर्पाठ**/ साधना अग्रवाल	48
समय जुलाहा	: **जयपुर में 'सारस्वत वन का बावरा अहेरी : 'अज्ञेय'**/ कुबेर दत्त	50
हस्तक्षेप	: **इतिहास के प्रवाह में**/ अनंत विजय	52
साहित्य : दृश्य-परिदृश्य		54

बाबू चिंतामणि घोष

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

इस बार संपादकीय की जगह बाबू चिंतामणि घोष पर बख्शीजी का आत्मीय स्मरण 'धरोहर' में दिया जा रहा है। प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. रामशरण शर्मा (पटना, 20 अगस्त, 2011) और कवि-चित्रकार कुबेरदत्त के आकस्मिक और अप्रत्याशित निधन (दिल्ली, 2 अक्तूबर, 2011) पर पुस्तक-वार्ता की ओर से अश्रुपूरित श्रद्धांजलि।

—भारत भारद्वाज

गत 11 अगस्त को स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष का श्राद्ध-दिवस मनाया गया। वे इंडियन प्रेस के और 'सरस्वती' के संस्थापक थे। इंडियन प्रेस और 'सरस्वती' के द्वारा उन्होंने हिंदी-साहित्य की श्रीवृद्धि में बड़ा काम किया, परंतु साहित्य के क्षेत्र में साहित्यकारों को जो गौरव अनायास प्राप्त होता है, वह प्रकाशकों को प्राप्त नहीं होता। द्विवेदीजी ने साहित्य की जो सेवा की है, वह हिंदी-साहित्य-जगत् में चिरस्मरणीय है। उन्होंने जो कीर्ति प्राप्त की, वह भी अक्षय है। फिर भी यह सच है कि 'सरस्वती' के स्थापन, प्रकाशन और उन्नयन में बाबू चिंतामणि घोष ने जो काम किया, वह उपेक्षणीय नहीं है। 'सरस्वती' के प्रकाशन के पहले हिंदी में कितनी ही मासिक पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं; परंतु उनका प्रचार नहीं हुआ। यह बात नहीं थी कि जिन लोगों ने उन पत्रों को निकाला था, उनमें साहित्य-सेवा, अनुराग अथवा योग्यता का अभाव था, परंतु जो सबसे बड़ा अभाव था, वह अर्थ का ही अभाव था। उसके लिए एक ऐसे प्रकाशक की आवश्यकता थी, जो अर्थ-हानि की चिंता न कर साहित्य की अभिवृद्धि के लिए मासिक पत्रिका का प्रकाशन करे। मासिक पत्रिका के ग्राहकों को सत्साहित्य की ओर प्रवृत्त कराने के लिए यह भी आवश्यक था कि पत्र सुंदर, सचित्र और सुव्यवस्थित हो। इसीलिए जब सन् 1900 ई. में 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ, तब मानो हिंदी-साहित्य-जगत् में एक नवयुग का आविर्भाव हुआ।

आचार्य पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व और बाबू चिंतामणि घोष के आदर्श सुप्रबंध के कारण 'सरस्वती' थोड़े ही दिनों में लोकप्रिय हो गई। उसी के द्वारा हिंदी-साहित्य में वह क्षेत्र निर्मित हुआ, जिसमें अब मासिक पत्रों का प्रकाशन कठिन नहीं है। सच्ची बात यह है कि यदि एकमात्र व्यवसाय की दृष्टि से ही 'सरस्वती' का प्रकाशन होता, तो वह कदाचित् अधिक दिनों तक न चल पाती। ऐसी स्थिति में साहित्य की जो अपूर्व श्रीवृद्धि अब वर्तमान युग में देखी जाती है, उसकी गति अवरुद्ध हो जाती। फिर भी यह सच है कि साहित्य के निर्माण में जो साहित्यकार संलग्न रहते हैं, वे जो कीर्ति पाते हैं, वह प्रकाशकों को दुर्लभ होती है, प्रकाशन के साथ व्यवसाय का जो भाव संबद्ध है, उसी के कारण प्रकाशक के प्रति भी लोग एक व्यवसायी की ही भावना को प्रधानता देते हैं। व्यवसाय का एक मुख्य सिद्धांत यह भी माना जाता है कि कम-से-कम के द्वारा अधिक-से-अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाए। इसीलिए अन्य व्यवसायियों की तरह प्रकाशकों में भी कितने ही लेखक एक शोषण की प्रवृत्ति पाते हैं।

पंडित बदरीनाथ भट्ट अपने युग के एक श्रेष्ठ लेखक थे। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में यथेष्ट काम किया था। सन् 1916 में वे इंडियन प्रेस में भी काम करने के लिए आए। इससे पहले उन्होंने जहां-जहां काम किया था, वहां की परिस्थिति का जो प्रभाव उन पर पड़ा, उसके परिणाम के संबंध में उन्होंने लिखा है कि मैथिलीशरणजी गुप्त उनसे कहा करते थे कि तुम यह समझते हो कि सारा संसार तुम्हें ही ठगने की घात में है। प्रकाशकों के संबंध में भट्टजी की तरह अन्य कुछ लेखकों का भी कुछ ऐसा ही विचार है कि प्रकाशक उन्हें ठगते ही हैं। कुछ प्रकाशकों का भी यह अनुभव है कि हिंदी में अभी ऐसे लेखक हैं, जो उन्हें ठगते हैं। पंडित बदरीनाथजी भट्ट ने अपने लेख में लिखा है कि बड़े बाबू अर्थात् स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष को लोगों ने बहुत ठगा। दो-एक सज्जन तो उनसे रुपया ले गए, परंतु फिर न तो उन्हें पुस्तकें ही लिखकर दीं और न रुपया ही चुकाने का नाम लिया; क्योंकि वे जानते थे कि बड़े बाबू अदालत में कभी जाएंगे नहीं।

ठगने और ठगाए जाने की प्रवृत्ति के संबंध में कितने ही पाठकों का यह कथन है कि ये लेखक और प्रकाशक दोनों के द्वारा ठगे जाते हैं। उन्हें ऐसी पुस्तकें पढ़ने के लिए मिलती हैं, जिनसे उन्हें लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। साहित्य की सच्ची श्रीवृद्धि के लिए जैसे सुयोग्य साहित्यकारों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सुयोग्य प्रकाशकों की भी आवश्यकता का अनुभव लोग करते हैं। यही कारण है कि हिंदी-साहित्य-जगत् में स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष का भी एक विशेष स्थान है।

जीवन-काल में जन्म-दिवस के उत्सव में जो गौरव नहीं रहता, वह श्राद्ध-दिवस में होता है। श्राद्ध-दिवस श्रद्धा का, आदर का, पूजा का, पुण्यस्मृति का दिवस होता है। मृत्यु जीवन का अंत अवश्य कर देती है, परंतु जीवन के गौरव को वह नष्ट नहीं करती। सच्ची बात यह है कि

जीवन का यथार्थ गौरव मृत्यु के बाद ही प्रकट होता है, मानो मृत्यु बहिर्जीवन की लीला को समाप्त कर अंतर्जीवन की अलक्षित महिमा को स्पष्ट कर देती हे। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है, त्यों-त्यों काल अपने साथ जीवन की सभी क्षुद्रताओं और हीनताओं को विलुप्त कर ले जाता है। जो एकमात्र गौरव होता है, वही अवशिष्ट रह जाता है।

11 अगस्त, 1928 को बाबू चिंतामणि घोष का देहावसान हुआ था। पच्चीस वर्ष व्यतीत हो गए। एक युग ही चला गया। इन पच्चीस वर्षो के भीतर कितने ही परिवर्तन हुए। हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में भी कम विलक्षण परिवर्तन नहीं हुए हैं। देश की स्थिति बदल गई है, और साहित्य की भी अब एक विशेष स्थिति हो गई है। समस्त देश में नवयुग का पदार्पण हो चुका है। सभी क्षेत्रों में एक क्रांति-सी हो गई है। सबसे प्रमुख बात यह हुई है कि देश अब पराधीनता के बंधन को तोड़कर स्वाधीन हो गया है और हिंदी कितने ही वर्षो तक विज्ञों के द्वारा तिरस्कार और अनादर पाकर अब राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हो गई है।

देश की स्वाधीनता के लिए जो एक बौद्धिक स्वाधीनता चाहिए, वह एकमात्र साहित्य और भाषा की सच्ची वृद्धि पर निर्भर है। आधुनिक युग में प्रेस के द्वारा साहित्य का निर्माण सुलभ होने के कारण एक ओर जैसे ज्ञान का पथ सुगम हो जाता है, उसी प्रकार अनिष्टकर ग्रंथों के प्रकाशन से लोक-रुचि भी दूषित और विकृत हो जाती है। प्रेस के द्वारा जो एक शक्ति उत्पन्न होती है, वह जनता को जैसे सुपथ पर ले जा सकती है, वैसे ही वह कुपथ पर भी आकृष्ट कर सकती है। इसीलिए जो लोग साहित्य को लोक-शिक्षा का सच्चा साधन बनाने के लिए प्रयत्न करते हैं, उनके द्वारा देश का सच्चा हित होता है। स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष ने अपने जीवन-काल में हिंदी भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि के लिए जो सतत प्रयत्न किया, उससे यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि नवयुग की प्रतिष्ठा में उनका भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान था।

जनतंत्र के विकास के साथ जनता में जो एक विशेष शक्ति आ जाती है, उसको एक विशेष रूप से संगठित करने में सामयिक पत्रों का सबसे बड़ा हाथ रहता है। भारतवर्ष में तो जनतंत्र का अभी उदय हुआ है। अभी यहां लोक-शिक्षा का भी अभाव है, परंतु इंग्लैंड के समान देशों में सामयिक पत्रों ने एक विशेष शक्ति प्राप्त कर ली है। वहां जन-शिक्षा का इतना प्रचार है कि सभी प्रकार के पत्र व्यवसाय की दृष्टि से लाभप्रद हैं। लोकप्रिय पत्रों की यथेष्ट ग्राहक-संख्या होती है। ये पत्र लोक-मत का भी निर्माण करते हैं। वे जनता का नेतृत्व करते हैं। इसी से शासन के क्षेत्र में भी उनका बड़ा प्रभाव रहता है। जनतंत्र में जनमत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जनमत पत्रों के द्वारा निर्मित होता है।

इंग्लैंड में लार्ड नार्थल्किफ, लार्ड रादरमियर और लार्ड बीभरब्रुक के समान लोग अपने पत्रों के कारण शासन के सच्चे सूत्रधार बन गए थे। उन्होंने पत्रों के द्वारा अपार संपत्ति प्राप्त की और अपार प्रभुत्व भी। उन्हीं के इंगित पर देश का शासन-संचालन होता था। उनकी शक्ति की उपेक्षा कोई नहीं कर सकता था। वे ही शासन के सच्चे कर्णधार थे। उनकी जीवन-कथाओं में शासन के परिवर्तन के संबंध में एक से एक विलक्षण घटनाओं का वर्णन हुआ है।

भारतवर्ष में अंग्रेजों के आधिपत्य-काल में भारतीय प्रेसों की उन्नति हुई। उन्हें विदेशी प्रभुत्व से संघर्ष करना पड़ा। जो लोग भारतीय प्रेस में काम करते थे, उनमें सेवा के साथ आत्मत्याग की प्रबल भावना काम करती थी। उन्हें केवल अर्थकष्ट ही नहीं सहना पड़ता था, विदेशी प्रभुत्व के कारण उन्हें अपने विचार-स्वातंत्र्य के लिए भी पग-पग पर कितनी ही बाधाओं का अतिक्रमण करना पड़ता था। लोक-शिक्षा का अभाव होने के कारण यह संभव नहीं था कि एकमात्र अपने पाठकों के ऊपर निर्भर रहकर कोई पत्र चले। देश की सबसे बड़ी भारी आवश्यकता यह थी कि देश में सत्साहित्य का निर्माण हो, जन-शिक्षा का प्रचार हो, लोकरुचि परिष्कृत हो और लोकमत का निर्माण हो। ऐसी अवस्था में 'सरस्वती' के समान एक मासिक पत्र की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। वर्तमान युग के तरुण पाठक उस युग की कदाचित् कल्पना तक नहीं कर सकते, जब हिंदी की हीनावस्था में हिंदी के प्रमुख साहित्यकारों को भी विशेष कष्ट सहकर साहित्य की सेवा में संलग्न रहना पड़ता था।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट के समान साहित्यकारों का जीवन सचमुच तपस्या का जीवन था। सभी प्रकार से प्रयत्न करने पर भी उन्हें अपने पत्रों के प्रकाशन में सफलता नहीं मिलती थी। अंग्रेजी भाषा और साहित्य का इतना अधिक प्रभाव लोगों पर था कि हिंदी के सभी साहित्यकार विज्ञों के समाज में आदर अथवा प्रतिष्ठा के पात्र नहीं थे। साहित्यकारों की प्रतिष्ठा-वृद्धि में सबसे पहले 'सरस्वती' ने ही काम किया। 'सरस्वती' के लिए यह कम सौभाग्य की बात नहीं थी कि उसे स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष के समान प्रकाशक मिले।

बाबू चिंतामणि घोष की जीवन-कथा स्वावलंबन और पुरुषार्थ की गाथा है। पंडित लल्लीप्रसाद पांडेयजी ने अपने एक लेख में लिखा है कि एक बार उन्होंने चिंतामणि बाबू से उनकी जीवन-घटनाओं का विवरण जानने की इच्छा प्रकट की। इस पर वे हँसकर कहने लगे कि मेरी जीवन-चर्या मेहनती आदमी की जीवन-घटनाओं का समुच्चय है। उसमें और है ही क्या? उन्होंने पांडेयजी को यह भी बतलाया कि एक लेखक ने उनसे उनका आत्म-वृत्त अपनी एक ऐसी पुस्तक के लिए मांगा था, जिसमें भारत के उन सपूतों का वर्णन था, जिन्होंने अपने बलबूते पर अपनी उन्नति की थी। वे कहने लगे कि जो दरिद्र युवक संसार में परिश्रम करके कुछ कर जाना चाहते हैं, उनके लिए उनकी जीवन-गाथा से कुछ सहारा जरूर मिल सकता है।

यह देखा गया है कि विश्व के कर्मक्षेत्र में जिन लोगों ने अपूर्व सफलता प्राप्त की है, उन्होंने एकमात्र अपने ही पुरुषार्थ के बल से जयलक्ष्मी को स्वायत्त किया। प्रारंभ में वे सभी साधनहीन थे। उन्होंने दीनावस्था का खूब अनुभव किया, परंतु उसी के कारण वे अपनी उन्नति में संलग्न रहे। कष्ट होने पर भी उन्हें अपनी उन्नति के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं हुई। विषम परिस्थिति ने उनके पुरुषार्थ की सच्ची स्फूर्ति दी, विपत्ति में संघर्ष कर उन्होंने सच्ची शक्ति प्राप्त की। साहस, दृढ़ता और स्वावलंबन के भाव से प्रेरित होकर उन्होंने सभी विघ्नों और बाधाओं का अतिक्रमण किया और अपनी उन्नति के लिए ऐसे सोपान निर्मित किए, जिनसे वे क्रमशः उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुंच गए। कार्नेगी का कथन था कि ऐसा कोई

भी युवक नहीं है, जिसे अपने जीवन में उन्नति का अवसर नहीं मिलता। आवश्यकता है, दृढ़ निश्चय से परिश्रम करने की। स्वावलंबन के द्वारा कार्नेगी ने जैसे अपने लिए सिद्धि का पथ निर्मित कर लिया था, उसी प्रकार उसका कहना था कि हम सभी लोग सफलता प्राप्त कर सकते हैं। कार्नेगी के लिए व्यवसाय एक क्रीड़ा की तरह, एक खेल की तरह आनंद का सरल साधन है। इसी से उसने अपने जीवन-काल में सदैव जीवन के सच्चे उल्लास का अनुभव किया। यही बात स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष के संबंध में भी कही जा सकती है। सभी स्थितियों में रहकर उन्होंने एक उल्लास का, एक स्फूर्ति का अनुभव किया। हीनावस्था में उन्होंने कभी ग्लानि का अनुभव नहीं किया। किसी भी काम को क्षुद्र समझकर उन्होंने उसके प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट नहीं किया। उन्हें जो काम मिला, उसे उन्होंने खूब उत्साह से किया। यही नहीं; अपने उस काम के साथ अन्य काम सीखने और करने की लालसा उनमें बाल्य-काल से ही थी। यही भाव उनकी अपूर्व उन्नति का सच्चा कारण था।

दस वर्ष की अवस्था में किसी भी बालक के लिए पितृहीन हो जाना सबसे बड़ी विपत्ति की बात है। चिंतामणि बाबू को दस वर्ष की अवस्था में पितृ-वियोग की व्यथा सहनी पड़ी। यद्यपि उनके पिता ने अपने जीवन-काल में यथेष्ट संपत्ति अर्जित की, तो भी वे अपने पुत्र को दैन्यावस्था में छोड़ गए। उन्होंने अपना सारा धन अपने जीवन-काल में ही नष्ट कर दिया था। ऐसी स्थिति में चिंतामणि बाबू पर परिवार का भार आ जाना उनके लिए कल्पनातीत बात थी, परंतु उन्होंने 13 वर्ष की अवस्था में ही अपने जीवन-निर्वाह के लिए काम करना प्रारंभ कर दिया। उनका शिक्षा-काल समाप्त हो गया। 'पायोनियर' के ऑफिस में वे असिस्टेंट क्लर्क के पद पर नियुक्त हुए और उन्हें मासिक वेतन के रूप में दस रुपए मिलने लगे। उन्हें क्लर्क के रूप में यथेष्ट काम करना पड़ता था, फिर भी उन्हें जब कभी अवकाश मिलता, वे प्रेस के सभी कामों को जानने के लिए व्यग्र रहते थे। वे प्रेस के छोटे-बड़े सभी कामों को समझने का प्रयत्न करते थे। प्रेस के अन्य कर्मचारियों के लिए उनका यह कौतूहल उपहास का एक विषय था, परंतु वे अपनी ज्ञान-वृद्धि के लिए निरंतर प्रयत्न करते रहे। दस रुपए से धीरे-धीरे वे साठ रुपए मासिक वेतन पाने लगे। वे अधिक-से-अधिक परिश्रम करते थे। जितना ही अधिक काम उन्हें मिलता था, उतना ही अधिक परिश्रम वे करते थे। सात वर्ष तक 'पायोनियर' प्रेस में काम करने के बाद जब वे उससे अलग हुए, तब उनके कार्यभार को संभालने के लिए पांच आदमियों की नियुक्ति पायोनियर प्रेस में करनी पड़ी। अपने इसी अध्यवसाय के कारण उन्हें नया काम पाने में कोई कठिनता नहीं हुई। वे मीटिआरोलॉजिकल ऑफिस में हेडक्लर्क के पद पर नियुक्त हुए। वहां उन्होंने कितने ही वर्षों तक काम किया। उनकी बड़ी प्रशंसा भी हुई, परंतु उनके हृदय में स्वतंत्र रूप से कोई काम करने की प्रबल लालसा थी। वे एक प्रेस स्थापित करना चाहते थे। सौभाग्यवश उन्होंने 'पायोनियर' में एक हैंडप्रेस के बेचे जाने का विज्ञापन देखा। उन्होंने उसको खरीद लिया। उसके बाद दिन भर वे अपने ऑफिस में काम करते थे और रात में कंपोज करने का अभ्यास करते थे। कुछ समय के बाद वे स्वयं छापने का कुछ काम करने लगे। वे स्वयं कंपोज करते, प्रूफ पढ़ते और छापते थे। सन् 1884 में उन्होंने इंडियन प्रेस के नाम से अपना प्रेस स्थापित कर दिया। उनके प्रेस की उन्नति होने लगी। उन्हें छपाई का काम मिलने लगा। पैंतीस वर्ष की अवस्था में वे अपना काम छोड़कर एकमात्र प्रेस की उन्नति में ही दत्तचित्त हो गए। उस समय उन्हें यथेष्ट अर्थ-कष्ट था, परंतु वे अपने उद्योग में लगे ही रहे। प्रेस की उन्होंने इतनी असाधारण उन्नति कर ली कि उसकी गणना श्रेष्ठ प्रेसों में होने लगी। उनकी इस सफलता का सबसे बड़ा कारण यह था कि एक कलाकार की तरह उन्हें मुद्रण-कला के प्रति अनुराग हो गया था। इसी से एक भी भूल उनके लिए असह्य थी। वे यही चाहते थे कि जो कुछ उनके प्रेस से निकले, यह सर्वांग सुंदर हो।

अपने एक लेख में बाबू श्यामसुंदरदासजी ने उनकी इस विशेषता के संबंध में एक घटना का वर्णन किया है। एक बार में बाबू चिंतामणि घोष के साथ प्रेस में घूम रहे थे। अचानक बाबू चिंतामणि घोष ने एक प्रेस के पास खड़े होकर छपते हुए एक फर्मे को देखा। ज्यों ही उस पर उनकी दृष्टि गई, त्यों ही उसे तुरंत फाड़कर उन्होंने वहीं रख दिया। उन्होंने प्रेसमैन से स्वयं कोई बात नहीं कही, परंतु उनके इस कार्य से तुरंत ही प्रेस में हलचल मच गई। जब बाबू श्यामसुंदरदासजी ने उनसे पूछा कि बात क्या थी, तब उन्होंने बतलाया कि छपाई ठीक नहीं हो रही थी और प्रेसमैन अपना काम ठीक नहीं कर रहा था। वह फर्मा फिर ठीक किया गया और छापा गया।

मुद्रण-कला में विशेषता प्राप्त करने के लिए उन्होंने सदैव प्रयत्न किया। इस संबंध में वे इतने सावधान थे कि किसी तरह की भूल होने पर वे हानि की परवाह नहीं करते थे और छपे हुए फर्मों को तुरंत नष्ट कर देते थे। शुद्ध और सुंदर छपाई के लिए वे अपनी ओर से कुछ भी नहीं उठा रखते थे। इसीलिए इंडियन प्रेस ने अपनी उत्कृष्ट छपाई के लिए समस्त भारत में ख्याति प्राप्त कर ली।

श्रेष्ठ साहित्य के प्रकाशन में भी बाबू चिंतामणि घोष उसी तरह ध्यान देते थे, जैसे उत्कृष्ट छपाई पर। उन्हें सदैव यह चिंता बनी रहती थी कि कोई यह न कहे कि इंडियन प्रेस से किसी निकृष्ट पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। पंडित लल्लीप्रसाद पांडेयजी ने लिखा है कि श्रेष्ठ साहित्य के प्रकाशन के संबंध में उनका कथन था कि प्रेस में यों तो बहुत-सी पुस्तकें छपती रहेंगी और उनकी बिक्री भी होगी; परंतु प्रेस को प्रतिवर्ष एक-दो ऐसे अमुद्रित ग्रंथ भी छापने चाहिए, जिनकी बिक्री चाहे कम हो, पर जिनके प्रकाशन से साहित्य का स्थायी लाभ हो। साहित्य में सुरुचि के प्रचार के संबंध में उनका इतना अधिक ध्यान था कि उन्होंने रवीन्द्र बाबू के प्रसिद्ध उपन्यास 'आंख की किरकिरी' का अनुवाद स्वयं प्रकाशित नहीं किया। उन्होंने इस उपन्यास के छापने का अधिकार अन्य व्यक्ति को दे दिया। इंडियन प्रेस से एक बार बाबू नवाबराय के नाम से प्रेमचंदजी का पहला उपन्यास 'प्रेमा' प्रकाशित हुआ। उस उपन्यास में कथा-रस का यथेष्ट परिपाक हुआ है। वह लोकप्रिय भी है, परंतु कुछ पत्रों में उसकी बड़ी प्रतिकूल आलोचनाएं छपीं। महात्मा मुंशीजी के सद्धर्म प्रचारक पत्र में भी उसके विरुद्ध एक लेख लिखा गया। इंडियन

प्रेस ने उसका प्रकाशन बंद कर दिया। साहित्य की विशेष शिक्षा न प्राप्त करने पर भी उनमें ज्ञान का इतना गौरव अवश्य था कि वे सत्साहित्य की सच्ची परीक्षा कर सकते थे और सच्चे साहित्यकारों का गुण-गौरव देखकर उनका उचित सम्मान करते थे।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित एक पाठ्य-पुस्तक की बड़ी तीव्र आलोचना की थी। उनकी उस आलोचना में तीव्रता रहने पर भी यथार्थता थी। उनकी उस आलोचना से प्रसन्न होकर बाबू चिंतामणि घोष ने उन्हें पाठ्य-पुस्तक के निर्माण का भार सौंपा। फिर उन्होंने उनको 'सरस्वती' का संपादन-भार भी सौंपा। द्विवेदीजी ने अपने एक लेख में लिखा है कि जब उन्हें 'सरस्वती' का संपादन-कार्य सौंपा गया, तब कुछ लोगों ने बड़ा कोलाहल मचाया। उन्होंने घोष बाबू से कहा—यह मनुष्य बड़ा घमंडी, बड़ा कलहप्रिय और बड़ा तुनुकमिजाज है। इससे तुम्हारी कभी न पटेगी, परंतु बाबू चिंतामणि घोष को गुण-गौरव की सच्ची परख थी। उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन भार द्विवेदीजी पर सौंपकर केवल अपनी दूरदर्शिता का ही परिचय नहीं दिया, परंतु हिंदी-साहित्य के लिए उन्नति का पथ परिष्कृत कर दिया। उस समय जितने साहित्यकार थे, सभी के साथ उनका स्नेह-संबंध था। वे सभी का सत्कार करते थे। श्रेष्ठ साहित्य के प्रकाशन में वे खर्च करने में कभी संकोच नहीं करते थे। उन्होंने ही सबसे पहले रामचरितमानस का शुद्ध और प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया। हिंदी-साहित्य के इतिहास में यह युग अनुवादों का युग कहा जा सकता है। इंडियन प्रेस ने बंगभाषा के श्रेष्ठ ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित किए। उन अनुवादों के द्वारा हिंदी-साहित्य का कम उपकार नहीं हुआ। सच तो यह है कि उन्हीं अनुवादों-ग्रंथों के कारण जनता में सुरुचि का प्रचार हुआ, भाषा भी परिष्कृत हुई और लोक-शिक्षा की भी वृद्धि हुई।

बाबू चिंतामणि घोष को दैन्य अवस्था का अनुभव था। इसीलिए वे दैन्यग्रस्त लोगों की सहायता करने में संकोच नहीं करते थे। जो लोग अपने पुरुषार्थ के बल से अपार संपत्ति अर्जित कर लेते हैं; उनमें प्रायः व्यक्तिगत रूप से किसी की सहायता करने में एक संकोच-भाव आ जाता है। कदाचित् उनकी इस भावना का कारण यह है कि वे यह समझते हैं कि जब उन्होंने स्वावलंब से अपनी उन्नति की, तब दूसरे लोग क्यों दूसरों की सहायता पर निर्भर रहें। कार्नेगी के संबंध में यह कहा जाता है कि वे बड़ी-बड़ी संस्थाओं को यथेष्ट संपत्ति दे डालते थे; परंतु व्यक्तिगत रूप से वे किसी को सहायता नहीं देते थे। उन्होंने कितने ही पुस्तकालय स्थापित किए, परंतु किसी एक व्यक्ति को शिक्षा-प्राप्ति के लिए सहायता नहीं दी। बाबू चिंतामणि घोष में यह बात नहीं थी। वे सदैव अभावग्रस्त लोगों को सहायता देने के लिए तत्पर रहते थे। कितने ही अनाथों और विधवाओं को उन्होंने यथेष्ट सहायता दी।

हिंदी-साहित्य में कितने ही लेखकों की आर्थिक दृष्टि से अच्छी स्थिति नहीं है। उसका एक बड़ा कारण लोक-शिक्षा का अभाव है। हिंदी-भाषा-भाषियों में अभी तक ऐसे कम पाठक हैं, जो खरीदकर पुस्तकें या मासिक पत्र पढ़ते हैं। जिन लोगों में साहित्य के प्रति अनुराग है, उनमें भी हिंदी-साहित्य के प्रति इतनी अभिरुचि नहीं है कि वे हिंदी लेखकों की पुस्तकों को खरीदकर पढ़ें। हिंदी के लेखकों के संबंध में उनका कथन था कि यहां लेखक अभी तक प्राचीन काल के ऋषि के समान श्रद्धा के पात्र हैं। वे लोक-हित के पथ-प्रदर्शक हैं। आर्थिक दृष्टि से उनकी वही स्थिति है, जो प्राचीन काल में ऋषियों की थी, परंतु उन्हें अपनी शांति का परित्याग नहीं करना चाहिए। अपनी ओर से बाबू चिंतामणि घोष ने सदैव यह प्रयत्न किया कि लेखकों को सदैव उचित पुरस्कार मिल जाए। जब पंडित बदरीनाथ भट्ट इंडियन प्रेस में नियुक्त हुए, तब उन्होंने भट्टजी से कहा कि यह प्रेस आपका है। इसके द्वारा हिंदी का कुछ काम हो जाए, इसीलिए हमने आपको कष्ट दिया है। जब नेत्रों के कष्ट के कारण बदरीनाथजी भट्ट प्रेस से अलग हुए, तब उन्हें आदरपूर्वक विदा देकर उन्होंने कहा—आपके लिए सदा मेरे प्रेस में जगह है। आप जब चाहें, बिना मुझे सूचना दिए यहां चले आएं। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने अपने जीवन-काल में सभी साहित्यकारों के साथ ऐसा उदारतापूर्ण व्यवहार किया कि सभी के साथ उनका संबंध बना रहा। प्रकाशकों के लिए उन्होंने साहित्य-सेवा का एक अच्छा आदर्श निर्मित कर दिया। इंडियन प्रेस में अभी तक उसी आदर्श का पालन किया जा रहा है।

एक बार पंडित चंद्रमौलि शुक्लजी ने बाबू चिंतामणि घोष से पूछा—जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए मुझे क्या करना चाहिए। उन्होंने हँसकर कहा—'मैं तो कोई साधु-महात्मा नहीं हूं कि आपको उपदेश दूं। तो भी आप पूछते हैं, तो मैं यही कहूंगा कि आप वही कीजिए, जो मैंने किया है।' शुक्लजी ने पूछा कि आपने क्या किया है। उन्होंने दो शब्दों में उत्तर दिया—सचाई और परिश्रम। इसमें संदेह नहीं कि यही दो सफलता के सच्चे सोपान हैं, परंतु इन दोनों गुणों को स्वायत्त करने के लिए मनुष्य में एक दृढ़ता चाहिए। उसके लिए विशेष धैर्य की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्तियों में विश्वास की एक ऐसी दृढ़ता रहती है, जिसके कारण वे अपने पथ पर सदैव अविचलित होकर अग्रसर होते रहते हैं। असफलता उन्हें हताश नहीं करती, शोक से वे व्याकुल नहीं होते, बाधाओं से वे उद्विग्न नहीं होते, संकट में वे घबराते नहीं।

बाबू चिंतामणि घोष को अपने जीवन-काल में शोक का प्रबल आघात सहना पड़ा। बाल्यकाल में उन्हें पितृ-वियोग का दुर्वह शोक सहन करना पड़ा, परंतु वृद्धावस्था में काल ने उन पर बड़ा ही निष्ठुर प्रहार किया। बेरीबेर रोग के कारण जब उनकी पत्नी, पुत्र और कन्या की मृत्यु हो गई, तब उन्होंने अपने असाधारण धैर्य के कारण उस दुःख को सह लिया। उस समय भी उनका यह दृढ़ विश्वास था कि ईश्वर मंगलमय है। उन्होंने अपने एक स्वजन को उस समय जो पत्र लिखा था, उसमें उनके असाधारण धैर्य और सहिष्णुता; दोनों की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने लिखा था, ''सोलह दिन के भीतर स्त्री, हरिपद और बोड़ी तीनों चले गए। मेरी बारी कब आएगी, यही सोचता हूं। ईश्वर मंगलमय है, मेरे लिए यह वाक्यांश दार्शनिक शब्द-मात्र है।'' शोक की दारुण यातना सहकर भी वे कभी कर्तव्यच्युत नहीं हुए। सभी स्थितियों में उन्होंने कर्तव्य का पालन किया। यही तो जीवन का सच्चा गौरव है।

(बख्शी ग्रंथावली, खंड-6 से साभार)

अवस बांचिए, बांचन जोगू

प्रेमशीला शुक्ल

'दासी की दास्तान' पश्चिमी भारत में प्रचलित प्रेमाख्यानों की रचनात्मक प्रस्तुति है। प्रस्तुतकर्ता हैं साहित्य के यशस्वी लेखक विजयदान देथा। इस पुस्तक में सात प्रेमाख्यान हैं। प्रत्येक प्रेमाख्यान के शीर्षक के नीचे उस प्रदेश का नाम उल्लिखित है, जहां वह प्रेमाख्यान प्रचलित है। जाहिर-सी बात है, ये प्रेमाख्यान बहुतों द्वारा कहे गए होंगे, सुने गए होंगे, फिर कहे को क्या कहना? सुने को क्यों सुनना? इन प्रश्नों के उत्तर 'उपाय' शीर्षक सातवें प्रेमाख्यान (राजस्थान और सिंध में प्रचलित, 'जलाल-बूबना' की प्रसिद्ध प्रेमकथा) में मिलते हैं।

कथा में एक है मूमना, एक है बूबना। दोनों सगी बहनें; मूमना बड़ी, बूबना छोटी; सिंध के नवाब की दुलारी बेटियां। सुंदरता में एक से बढ़कर एक, लेकिन दोनों की सुंदरता के गुण-धर्म में पर्याप्त अंतर था। मूमना की सुंदरता शीतलता प्रदान करती थी, बूबना की दाहकता, एक हिम तो दूसरी अग्नि। सुहाग की सेज पर आग सरीखी बूबना से उसका बूढ़ा पति थटाभरवर का बादशाह सुहाग को परिणति तक क्या पहुंचाता, प्रारंभ में ही बुरी तरह हार गया। सेज के रणक्षेत्र की हार सबसे बड़ी हार। बादशाह ने बहुतों से सुन रखा था—अमर फल खाने से अस्सी-अस्सी बरस के राजा-रानी सोलह बरस के पट्ठे हो गए। सेज के रणक्षेत्र की जीत का बस एक ही उपाय है, अमर फल खाना, लेकिन बूबना ने समझाया, ''बातों के अमर फल बातों की बाड़ियों में पैदा होते हैं और बातों के लोग ही उसे मंगवाते हैं, मनुष्यों की वास्तविक दुनिया में आज तक उनका कोई सबूत नहीं।'' बादशाह का दिल बैठने लगा—तो क्या ये सारी बातें झूठी हैं? उसने फरमान सुनाया, ''जिस किसी के मुंह से ये झूठी बातें निकलेंगी, उसे तत्काल सूली पर लटकाने की सजा दी जाए।'' क्रोध और दुःख में डूबते-उतराते बादशाह को बोध हुआ कि गरीबों को दुआओं से ही अमर फल मिलेगा, अतः गरीबों की सुख पहुंचाने में लग जाना चाहिए।

तो, कद्रदानो! खुदा खैर करे, झूठी बातें। काल्पनिक बातें सच में तब्दील हो जाती हैं जब दुखियारों से/ लोक से उनका वास्ता जुड़ जाता है। और, मनुष्यों की वास्तविक दुनिया में उनका मोल बढ़ जाता है। जीवन की सच्चाइयां जब झूठ में शामिल हो जाती हैं तो झूठ उसमें तपकर सच बनकर निकलता है। जुबान से जुबान पर चढ़ते-उतरते अनेकानेक बार इन कथाओं के साथ ऐसा हुआ है। और, इनको सुनने-समझने की जरूरत उतनी-उतनी बार हुई है। विजयदान देथा की कलम की नोक ने इस जरूरत को और भी ज्यादा तल्ख और असरदार बनाया है। इतना ही नहीं, कलम ने कथाओं पर ऐसी सान चढ़ाई है कि इनकी धार बहुत तेज हो गई है। तमाम

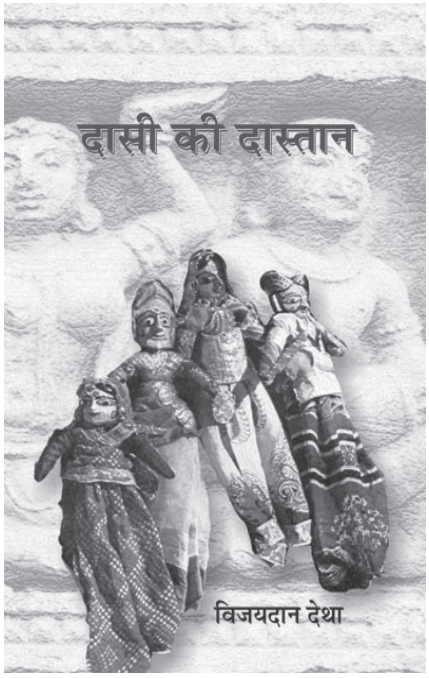

अनर्गल बातों को काटते-छांटते जो 'खालिस झूठ' कलम ने तराशा है, वह प्रेम है, वही खुदा का नूर है, आदमी की भीतरी ताकत है। वही सत्य है, शिव है, सुन्दर है।

इस सत्य का बखान महाभारत, गीता, रामायण, पंचतंत्र से लेकर लोक-कथाओं तक में है। इन्हें लिखने वाले अनुभवी-ज्ञानी रहे हैं। इनके वाचन से बुद्धि पर चमक आती है, जीने की जो राह नहीं खुलती, वह खुलती है, ''धरती पर चलने वाले प्राणियों को बांचने से, हवा में उड़ते पंछियों को बांचने से, झाड़-बिरछ और फूलों को बांचने से, चांदनी और उजाले तथा रात के अंधेरे में टिमटिमाते तारों को बांचने से।'' शास्त्रीय शब्दावली में यह लोक-यात्रा है। इन्हें बांचना और इनके मरम को समझना लोक-संग्रह है। बिना इसके रचनाधर्मिता का पाठ पूरा नहीं होता। यहां यह समझना जरूरी है कि 'लोक' शब्द अंग्रेजी के फोक (folk) शब्द का हिंदी अनुवाद नहीं है, वरन् विशिष्ट भारतीय अवधारणा का वाचक शब्द है। 'लोक' में मनुष्य के साथ सृष्टि का कण-कण समाहित है। लोक में चर-अचर, जड़-जंगम, मनुष्य-माटी, जीव-जन्तु, गाछ- बिरिछ सभी हैं। विजयदान देथा की संपृक्ति इसी लोक से है। इसलिए 'दासी की दास्तान' प्रचलित प्रेमकथाओं की तोतानुमा रटन्तू प्रस्तुति नहीं है, उनका पुनर्सृजन है। लेखक ने कथाओं को सपने के उनमान उठा लिया है और वैसे ही ताने-बाने के साथ उन्हें गुंफित किया है।

प्रकृति 'दासी की दास्तान' में एक प्रमुख आलम्बन है। वैसे तो प्रकृति किसी-न- किसी रूप में प्रत्येक प्रेम-कथा में है, पर 'मरवण' एवं 'संजोग' शीर्षक प्रेम-कथाओं में यह अपेक्षाकृत अधिक महती भूमिका में है। 'संजोग' में ''प्रीत की गोद में तो समूची दुनिया के लोग, जीव-जिनावर पांख-पखेरू, गाछ-बिरिछ, नदी-सरोवर और पहाड़

इत्यादि सभी समा जाएं, तब भी कम है।'' जैसी सीधी टिप्पणी है। 'मरवण' की कथा में प्रकृति कथा विकास का घटक और चरित्र विकास का प्रत्यावर्तन बिंदु है। हरियाला सुग्गा कबीर के बिना मरवण की कथा अधूरी है। सुग्गा, खरगोश एवं प्रकृति के अन्य रूपों से प्रेम करने के कारण ही मरवण व्यक्ति विशेष के प्रति बंधे प्रेम का अतिक्रमण कर पाती है। ''दूसरी औरतों के उनमान बिछोह में आहें भरूं, आंसू बहाऊं, रति-क्रीड़ा के लिए छटपटाऊं तो मेरा ज्ञान और कुदरत के प्रति असीम प्रीत सब बेकार है! स्वांग है, पाखंड है! प्रकृति के विभिन्न स्वरूप केवल एक व्यक्ति की खातिर अदृष्ट नहीं रह सकते।'' कहने वाली मरवण जैसी नारी आज के महिला सशक्तीकरण के जमाने में ढूंढ़े नहीं मिलती।

उमादे-भारमली की जोड़ी की गति निराली है। गलियारे से उठाई अवैध बच्ची भारमली और राजकुंअरी उमादे के बीच ऐसी गाढ़ी प्रीत है कि 'दासी की दास्तान' शीर्षक प्रेम-कथा का कोष्ठक स्थित उपशीर्षक ही है—'उमादे-भारमली की प्रेमकथा', स्त्री-पुरुष के बीच के प्रेम की कथा नहीं, स्त्री-स्त्री के बीच की प्रेम की कथा। दोनों एक ही डाली की दो सुरंगे फूलों की तरह एक-दूसरे से जुड़ी हुई। उमादे को जो भी, जैसा भी सुख मिला, उसने भारमली के साथ उसका साझा किया, फिर कंजूस की तरह सेज क्रीड़ा में वह भारमली को अलग नहीं कर सकती, वह अपने पति-प्रेम का भी साझा करेगी—उमादे ने निश्चय किया। जब वह समय आया तो उमादे ने साझे से भी ज्यादा किया। उसने पूरे-का-पूरा भारमली को सौंप दिया। पति की सहमति-असहमति की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। भारमली के साथ पति ने भी वही किया, जो भाई ने किया था—उमादे की अंतरंग भारमली के गालों पर पुरुष के खूनी दस्तखत। उमादे ने भाई को सजा और पति को ईनाम देकर भारमली के प्रति अपने प्रेम को प्रमाणित किया। यह प्रेम-कथा आगे और बहुत दूर तक जाती है।...सम्प्रति कहना इतना है कि इस पुस्तक में प्रेम के ढेर सारे रंग हैं—चटख-धूमिल। रेगिस्तानी ढूहों की वीरानगी को ओढ़े हुए धीमे कदमों से जब प्रेम सोने से दमकने वाले किलों में पहुंचता है तो केसरिया साफा और स्याह काली मूंछों को देखकर अचानक गाजे-बाजे और गीतों की गूंज में घुलमिलकर नाचने-गाने लगता है। एक अजब-गजब का संजोग जुटता है 'संजोग' शीर्षक प्रेमकथा में। स्त्री-पुरुष के प्रेम की सामिष कथा है यह।

'अनदेखा अन्तस' में निरामिष प्रेम का उजास फैला है। पति पत्नी से प्रेम करने वाले पुरुष के विषय में कहता है, ''प्रेम तो बदले में निखालिस प्रेम की ही मांग करता है। तू इनसे प्रेम करे तो मुझे ऐतराज नहीं होना चाहिए। यह बहुत बेजा बात है।''

उपर्युक्त अवतरणों में 'दासी की दास्तान' की कुछ प्रेम-कथाओं की घटनाओं के उल्लेख का उद्देश्य कथाओं का सार-संक्षेप प्रस्तुत करना नहीं है, मात्र बानगी पेश करना है कि प्रेम के कितने अनोखे शेड्स यहां हैं और यह भी कि किसी भी प्रेम-कथा की घटनाएं सामान्य नहीं हैं। तो क्या इन्हें असामान्य-अविश्वसनीय कहकर खारिज किया जा सकता है? कदापि नहीं। ये घटनाएं असामान्य नहीं, विशिष्ट हैं। 'दासी की दास्तान' में वर्णित प्रेम की अवधारणा भारतीय लोकमानस में ही संभव है। यूरोपीयन समुदाय में प्रचलित 'बालकनी प्रेम' या अरबी समुदाय के संगसार के सजायाफ्ता प्रेम की अवधारणा से यह अनेक स्तरों पर अलग है। इस प्रेम का मार्ग अत्यंत सीधा है, किंतु इस सीधे मार्ग की पहचान करने के लिए दुरूह, टेढ़े-मेढ़ रास्ते से गुजरना पड़ता है। ये रास्ते स्थितियों और अनुभूतियों के रास्ते हैं। प्रेम करने वाले जितने हृदय उतनी स्थितियां, उतनी अनुभूतियां और उतने रास्ते—उतनी तरह के रास्ते। इसीलिए 'दासी की दास्तान' की प्रेम-कथाओं में कहीं भी, रंचमात्र का भी, दुहराव नहीं है। ''दो आत्माओं की सच्चाई एक नहीं हो सकती।'' प्रेम के मार्ग तक पहुंचने के पहले आत्मा की सच्चाई की तलाश करनी पड़ती है। बिना इसके प्रेमी का निस्तार नहीं। पहली प्रेम-कथा से लेकर अंतिम कथा तक यह तलाश देखी जा सकती है।

राजस्थान, गुजरात, सिन्ध आदि प्रदेशों में प्रचलित इन कथाओं में कहां हैं विजयदान देथा? विजयदान देथा ने कथाओं का भावन करते हुए रचनात्मक रसायन तैयार किया है। यह पुस्तक कथाओं का अद्‌भुत पुनर्सृजन है।

विजयदान देथा बहुत सजग होकर मनुष्य के मनोविकारों के संसार में प्रवेश करते हैं। ''मनुष्य के मन की यह कैसी तासीर कि पल में समन्दर और पल में पर्वत, पल में सरोवर और पल में प्रवाह।'' विजयदान देथा मन के इसी स्वभाव को परखते हैं। अपनी सारी खूबियों के बावजूद लोक-कथाओं की सीमाएं होती हैं। लोक-कथाएं घटनाओं का जिक्र करते हुए आगे बढ़ती जाती हैं। 'दासी की दास्तान' में घटनाएं ठहरकर मन की क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करती हैं। इस क्रम में मन की अनेक गांठें खुलती चली जाती हैं—एक के बाद एक—एक के बाद एक—और पाठक चमत्कृत हो जाता है। एक उदाहरण लिया जाए।

'दासी की दास्तान' की दासी भारमली का शारीरिक संबंध राजा के साथ बन चुका है। इस एक घटना ने भोग, प्रीति, भक्ति, दया, लालसा, विरक्ति, कृतज्ञता, लगाव, आनंद आदि अनेकानेक एक-दूसरे जैसी, पूर्णतः भिन्न और किंचित भिन्न भावनाओं को ऐसे खोला है जैसे कोई आसानी से अपने कमरे का दरवाजा खोलता है। यह कहना कि लेखक ने नारी मनोविज्ञान में महारत हासिल की है, अधूरी बात होगी। प्रेम में दो आत्माएं परस्पर एक-दूसरे के प्रश्न का प्रत्युत्तर बनती हैं अतः स्त्री-पुरुष जैसा विभाजन इस बिंदु पर नहीं किया जा सकता, लेकिन यहां यह कहना भी जरूरी है कि लेखक ने स्त्रीत्व को पुरुष से अलग स्वतंत्र जीवंत इकाई के रूप में देखा, समझा और माना है। ''पुरुष की छाया तक देखे बिना औरत पूरमपूर सुखी, संतुष्ट और मगन रह सकती है, अपने आपमें संपूर्ण।''

इन कथाओं में बाह्य परिवेश लगभग एक-सा है। घटनाओं और पात्रों की प्रकृति एक-सी नहीं है। लंबे-लंबे वर्णनों के बीच कोई छोटी-सी दिखने वाली घटना घट जाती है, जिसका बड़ा प्रभाव पात्रों पर भी पड़ता है और पाठकों पर भी, अतः किसी भी वर्णन को चलताऊ ढंग से सलटाया नहीं जा सकता। इस पुस्तक के शिल्प की यह अनूठी कारीगरी है। यह पुस्तक स्वयं को तो पढ़वाती/बंचवाती ही है, मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों को कुदरत की कारीगरी को भी बांचने के लिए प्रेरित करती है।

हिंदी के पाठकों को सुखद पाठकीय अनुभव देने के कारण विजयदान देथा साधुवाद के अधिकारी हैं।

दासी की दास्तान/विजयदान देथा/भारतीय ज्ञानपीठ/18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 मूल्य ₹ 390

552, प्रदक्षिणा, उमानगर, दक्षिणी सी.सी. रोड, देवरिया-274001 (उ.प्र.) मो. 09450925784

पतिया : स्त्री-विमर्श की सबसे पहली सबसे सशक्त बानगी

शंभु गुप्त

'पतिया' केदारनाथ अग्रवाल का बहुत छोटा और इकलौता उपन्यास है, जो अपनी विषय-वस्तु, रचना-कौशल, लेखकीय दृष्टि इत्यादि की अभूतपूर्व मौलिकता और टटकेपन के चलते उनकी अपनी ही कई रचनाओं पर भारी पड़ता है। यह उपन्यास हिंदी के कथा-आलोचकों की निगाह से कैसे ओझल रह गया, यह एक घनघोर आश्चर्य और रहस्य की बात है, क्योंकि इसमें वे बहुत सारी चीजें हैं, जो एक उपन्यास को उपन्यास बनाती हैं, एक गठा हुआ गंभीर उपन्यास, जो एक बैठक में पढ़ा जा सकने की रोचकता रखता हो और जिसमें अनावश्यक या भरती का कुछ भी न हो।

यह उपन्यास तीन ऐसी स्त्रियों की कहानी है, जो पुरुषवर्चस्ववादी और पितृप्रधान व्यवस्था में आधारहीनता और अन्योपजीव्यता की दुष्चक्रीय नियति को अंततः प्राप्त होती है और लाख प्रयत्न करने और अपने अनंत जीवट और जीवंतता के बावजूद उससे निकल नहीं पातीं। पुरुषवर्चस्व और पितृप्रधानता उनके लिए एक ऐसी दलदल साबित होती है, जिससे जितना निकलने की कोशिश वे करती हैं, उसमें उतना और ज्यादा फंसती चली जाती हैं। इन स्त्रियों को इस दलदल में तिरोहित कराने का षड्यंत्र इनके निकटतम पुरुषों द्वारा संचालित और नियोजित होता है। वह फिर चाहे पति, पिता, भाई हो या कोई और निकटस्थ रिश्तेदार। यह कैसी अजीब बात है कि भारत जैसे पारिवारिक संबंधों या संबंधों की पारिवारिकता की व्यापकता और प्रगाढ़ता वाले समाज में स्त्री का सबसे अधिक अपमान और अवमानना उसके घरवालों और निकटस्थ लोगों द्वारा की जाती है। इनमें पुरुष भी शामिल हैं और स्त्रियां भी। इनमें वे स्त्रियां शामिल नहीं हैं, जो बावजूद तमाम दबाव, अभाव, उत्पीड़न, प्रतारणा, प्रवंचना इत्यादि के पुरुष वर्चस्व से इंकार करती हैं और पितृसत्ता की प्रक्रियाओं और प्रविधियों में ढलना स्वीकार नहीं करतीं। इस उपन्यास की पहली सबसे बड़ी उल्लेखनीयता यह है कि ये तीनों स्त्रियां—मोहिनी की मां, खुद मोहिनी और पतिया—इसी तरह की स्त्रियों में हैं। केदारनाथ अग्रवाल अपनी वैचारिक पक्षधरता और दो-टूकपन में यहां उसी प्ररूप में हैं, जो उनकी लंबी काव्य-यात्रा में कविता के क्षेत्र में लगातार अविचलित रूप में गतिशील हमें दिखाई देता है। कथा-रचना के क्षेत्र में इस उपन्यास में उनकी यह वैचारिक पक्षधरता और दो-टूकपन और ज्यादा गहराई और व्यापकता के साथ बहुत ही संश्लिष्ट और सुगठित रूप में उभरकर सामने आता है।

कथा स्त्री-जीवन के यथार्थ के लिए सबसे मुफीद विधा है। दुनिया-भर की श्रेष्ठतम

स्त्री-संबंधी रचनाएं गद्य-विधाओं में हैं। विशेषतः उपन्यास और कहानियों में। केदारनाथ अग्रवाल की क्रांतदर्शी चेतना और यथार्थकेंद्री अंतर्दृष्टि का यह स्वयं-प्रमाणित उदाहरण है कि जब वे स्त्री के यथार्थ की संरचना की ओर उन्मुख हुए तो इसके लिए उन्होंने उपन्यास को चुना। यह उपन्यास बहुत ही सहज, किंतु गहरी घटनाशीलता और उसकी अंतर्संबद्धता के मार्फत अपने समय के स्त्री-यथार्थ को चित्रांकित करता है। यहां स्फीति और वक्तृत्व जैसी स्थितियां एकदम नहीं हैं।

इस उपन्यास में मोहिनी पतिया को आने वाली चुनौती के लिए तैयार करती हुई कहती है, "हिम्मत बिना दुनिया में जीना दूभर है। अच्छा भौजी शहर चलकर मेरे साथ ही रहोगी ना?" इसी क्रम में आगे एक बार फिर वह उससे कहती है, "और तुम—और तुम्हारे हाथ क्या कुछ कम मजबूत हैं? कितना काम करती हो तुम इन हाथों से। चाहो तो दुनिया को उलट-पुलट डालो।" केदार केदार इसीलिए हैं कि वे एक निश्चित और स्पष्ट स्टैंड अपनी रचनाओं में लेते हैं और पाठक के सामने एक खुली चुनौती छोड़कर उन्हें अलविदा कहते हैं। यह एक वैकल्पिक अवधारणा जैसी स्थिति होती है, जिसकी अपार संभावनाएं प्रासंगिक और प्रकट यथार्थ में स्वयं होती हैं। इसे कोई चाहे तो वैकल्पिक यथार्थ की संज्ञा से भी अभिहित कर सकता है। मोहिनी का यहां जो हिसाब बराबर करने का इरादा है, वह इसका उदाहरण है।

ये तीनों स्त्रियां अपनी स्थितियों को एक चुनौती की तरह लेती हैं और उनसे निपटने की पूरी मनोवैज्ञानिक तैयारी के बाद ही अपने कदम आगे बढ़ाती हैं। इन्हें अपनी-अपनी ठस और ठहरी और नियति से

लोहा लेना है। मोहिनी इस मामले में सबसे आगे है। एक व्यक्ति के रूप में स्वभाव से वह खिलंदड़ी और मनमौजी है। वह ज्यादा तनाव नहीं पालती। वह झोली फटकारकर चलने वाली एक हरफनमौला किरदार है। ऐसे व्यक्ति को जो माहौल मिलना चाहिए, वह मोहिनी जैसी कथित नीची/कामगार जाति के लोगों को आज भी मुश्किल है। कमासिन जैसे गांवों के जमींदार/ठाकुर या तो अपने लगान से मतलब रखते हैं या इस बात से कि वे कितनी औरतों को बतौर बीवी या रखैल अपने हरम में जुटा पाते हैं। केदार उपन्यास में इस गांव का जातिगत ढांचा पेश करते हुए लिखते हैं कि, ''ब्राह्मणों-ठाकुरों की बस्ती काफी है। कई घर वैश्यों के भी हैं। एक महाजन का भी घर है। मौका पड़ने पर सब तरह का काम निकल जाता है। जमींदार पुराने ढंग के हैं। उन्हें तो बस अपना लगान चाहिए। गांव के ब्राह्मण-ठाकुरों से उन्हें कोई खास मतलब नहीं। दूसरी जाति वालों पर उनका रौब है। अहीर-चमार और नीच जाति के लोग उनके पांव चूमते हैं। दो-तीन घर सुनार, बढ़ई और लोहार के भी हैं।'' यह हमारे यहां के गांवों का एक सामान्य नक्शा और सामाजिक ढांचा है। इस ढांचे से सामंतवाद, सवर्णवाद और पितृसत्ता अथवा पुरुषवर्चस्ववाद; तीनों की उपस्थिति देखी जा सकती है। पतिया का जीवन इस त्रिकोणीय कारा में कुछ इस तरह फंसा रह जाता है कि यकायक वह यह तय नहीं कर पाती कि अब उसे करना क्या है। लखनपुर के मेले से वह जो दो खिलौने खरीदती है, वे एक- दूसरे की विपरीत प्रतीति वाले होते हैं। इनमें से एक 'दीन-दुनिया से बेखबर सूत कातने में लगी' एक गुजरिया थी और दूसरा 'तिरछी टोपी सिर पर लगाए सिगरेट पीता' चुपचाप खड़ा अपनी मूंछें मरोड़ता। 'छैलचिकनिया' था। उपन्यास के अनुच्छेद संख्या 7 में विस्तार और वैशिष्ट्य के साथ इन दोनों खिलौनों की प्रतीकात्मकता का निरसन किया गया है। यहां प्रविधि लगभग काव्यात्मक है। यह गुजरिया खुद पतिया है और छैलचिकनिया उसका पति स्वामी है। लेखक इस प्रतीकात्मकता को काफी दूर तक खींचता है और एकदम खोलकर बताता है कि पतिया दरअसल खिलौने नहीं, अपने बेमेल दांपत्य का जोड़ा ही लेकर आई है। पतिया की संकल्पना संभवतः एक ऐसी स्त्री बनने की है, जो चुपचाप फल की इच्छा किए बिना अपने काम में लगी रहती है। लेखक यहां गांधीवाद का आरोपण करता प्रतीत होता है। हालांकि फल की आकांक्षा से पूरी तरह मुक्त वह नहीं है। उसका आजीवन संघर्ष इसका प्रमाण है।

इस उपन्यास के लिखे जाते समय केदारजी के मन में यह तथ्य जरूर रहा होगा कि स्त्री के व्यक्तित्व को जड़-मूल-विहीन करना इस पुरुष-प्रधान व्यवस्था का अंतर्निहित एजेंडा है। सिद्धांत-निरूपण इस कथा के लिखने के पीछे केदारजी की प्रास्थानिकता नहीं रही। सैद्धांतिकी यहां एक रचनात्मक उपोत्पादन या उपपत्ति की तरह महसूस होती है, जिसे रचना की इस एक विशिष्ट प्रक्रिया के तहत निकलकर सामने आना ही था! केदारजी सिद्धांत-निरूपण से ज्यादा यथार्थ-निरूपण को वरीयता देते हैं।

पतिया अपने मूलभूत रूप में एक सामान्य भारतीय स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है। सामान्य भारतीय स्त्रियों में भी वह ऐसी बहुसंख्यक ग्रामीण स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है, जो छोटी उम्र में ब्याह दी जाती हैं और इसी के परिणामस्वरूप जिनका समूचा भविष्य एक अंधेरी सुरंग-जैसा बन जाता है। एक विवाहित स्त्री को समाज और विशेषतः अपने घर एवं आसपास के लोगों को निरंतर यह प्रमाण देते रहना पड़ता है कि वह विवाहिता है और किसी एक पुरुष-विशेष की भार्या है। उसका यह कथित भार्यापन उसके निजी व्यक्तित्व पर एक ऐसा बोझ है, जिसे उसे चाहे-अनचाहे जिंदगी-भर ढोना है और इस ढोने को अपना सौभाग्य और अपनी प्रसन्नता और खुशहाली का आधारभूत तत्व मानकर चलना है। जो स्त्रियां इससे इंकार करती हैं, वे मोहिनी और पतिया जैसी नियति के लिए तैयार रहें!

भारतीय परिदृश्य में स्त्री के लिए दो ही रास्ते हैं—या तो वह अपना भार्यापन कायम रखे या फिर कोठे पर जा बैठे! दरअसल पति और अन्य घरवालों की सेवा और कोठे पर बैठना, इन दोनों ही स्थितियों में स्त्री की निजता के लिए कोई स्थान नहीं है, इन दोनों ही स्थितियों में वह आत्मविस्मृति और खुद से एक निर्मम और आत्महंता अलगाव की मनःस्थिति में समय बिताती है, इन दोनों ही स्थितियों में उसकी देह और आत्मा एक अंतहीन और संप्रभु नियंत्रण में खराद-सी पर चढ़ी रहती हैं अतः तात्विक दृष्टि से इन दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं है। संभवतः यही कारण है कि इस उपन्यास में मोहिनी और पतिया अंत में एक ही मंच पर एकत्र दिखाई देती हैं। इन दोनों का एकत्र होना एक तरह के बहनापे का सूचक भी है, जिसे स्त्रीवादी शब्दावली में 'सिस्टरहुड' कहा जाता है। केदारनाथ अग्रवाल की कहानी 'समाज की भूल' में भी एक तरह का सिस्टरहुड हमने देखा था, जहां दो विधवाएं अपने-अपने पतियों के आत्महत्या कर लेने के बाद एकत्र होती हैं। इस उपन्यास में पतिया और मोहिनी विधवा तो नहीं हैं, लेकिन विधवा से बेहतर भी नहीं हैं। इन दोनों का एका उत्पीड़ित स्त्री-जीवन का एक सामान्य विकल्प है। यह विकल्प किसी समस्या का कोई समाधान नहीं, केवल पुरुष के उत्पीड़न से मुक्ति है। पुरुष के उत्पीड़न से मुक्ति का यह विकल्प स्त्रीवादी सैद्धांतिकी का एक खास पहलू है।

पुरुष-सत्ता किस तरह स्त्री के व्यक्तित्व—उसकी देह और आत्मा—से खेलती है, इस उपन्यास के लगभग सभी स्त्री-पात्र इसके गवाह हैं। इन पात्रों में पतिया, मोहिनी और मोहिनी की मां ही नहीं, पतिया की वे दोनों सहेलियां भी शामिल हैं; जो बहुत थोड़ी देर के लिए कहानी में आती हैं। इन सहेलियों के नाम लेखक ने नहीं दिए हैं, केवल बड़ी और मंझली कहकर काम चला लिया है। इन दोनों विवाहिताओं की स्थितियां भी आम ग्रामीण स्त्रियों से भिन्न नहीं हैं। ये दोनों स्त्रियां पुरुष-सत्ता की अजेयता को तहेदिल से स्वीकार और अंगीकार कर चुकी पराजित स्त्रियों का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। छैलचिकनिया खिलौने के मार्फत केदारजी फिर यहां देहाती दाम्पत्य के एक व्यापक यथार्थ को सामने लाते हैं। इसी प्रसंग में वे यह भी अभिव्यक्त करने से नहीं चूकते कि आवश्यक नहीं कि स्त्री छैलचिकनिया जैसे पुरुष के साथ रहे ही रहे, वह उसे छोड़कर चले जाने को स्वतंत्र है।

इस उपन्यास में मोहिनी की मां की स्थिति सबसे ज्यादा दुर्द्धर्ष है; जो अपने निखट्टू पति और लंपट ठाकुर के बीच सैंडविच बनी अपनी नियति को कोसती रह जाती है। वह न इधर की रहती है, न उधर की, यहां तक कि वह अपनी पुत्री मोहिनी को भी अपने जैसी

बनने से रोक नहीं पाती। अब यह अलग बात है कि मोहिनी खुद इतनी तीव्र है कि वह ठाकुर तो ठाकुर शहर के किसी अन्य व्यक्ति को भी अपने पर हाथ साफ करने का मौका नहीं देती; जबकि अब तो उसके पास इसका सरकारी लाइसेंस भी है। मोहिनी की मां भारतीय दलित स्त्री-यथार्थ का एक ऐसा विरल उदाहरण है, जो एक तरफ तो पुरुष के निखट्टूपन और दूसरी तरफ उसके लंपटपन की एक साथ चपेट में है। यहां निखट्टूपन पति का है और लंपटपन उस उच्च जाति के संपन्न और दबंग पुरुष-समुदाय का, जो दलित स्त्रियों को अपना स्वाभाविक निवाला समझते हैं। ये दोनों स्थितियां एक-दूसरे की सहयोगी बनकर सामने आती हैं। यह एक चक्की है; जिसके दो पाटों के बीच दलित स्त्री निरंतर पिसती रही है। केदारनाथ अग्रवाल इस उपन्यास में बड़े नामालूम ढंग से दलित स्त्रियों के संदर्भ में हमारे सामंती समाज के इस घनघोर पुरुषवादी स्वरूप को पेश करते हैं। यह स्थिति आज भी किसी-न-किसी रूप में जारी है।

केदार यह सब उस समय रच रहे थे, जब हिंदी में दलित और स्त्री यथार्थ के मौजूदा विमर्श की भनक तक नहीं थी। यदि मैं यह कहूं कि केदारनाथ अग्रवाल का यह 'पतिया' उपन्यास हिंदी के इधर के नए स्त्री-विमर्श की सबसे पहली सशक्त बानगी है, तो शायद कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी! कथाकार अखिलेश ने वर्धा के अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की केदार की जन्मशती संबंधी संगोष्ठी (अक्तूबर, 2010) में यह ठीक ही कहा था कि 'पतिया' उपन्यास स्त्रीवादियों के लिए भरपूर सैद्धांतिक और व्यावहारिक आधार-सामग्री जुटाता है। स्त्रीवादी दृष्टि से इस उपन्यास का अध्ययन बहुत कारगर ढंग से किया जा सकता है।

पतिया/केदारनाथ अग्रवाल/परिमल प्रकाशन/17, एम.आई.जी., वाघम्बरी आवास योजना, अल्लापुर, इलाहाबाद-211006, मूल्य : ₹ 65

अध्यक्ष, स्त्री अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा-442001, मो. 8600552663, (07152) 232947

स्वातंत्र्य की तलाश का भटकाव

श्यामसुंदर दुबे

'यह जो 'मैं' है—यह कितने रूपों में सक्रिय होकर अपने इकाई व्यक्तित्व की संरचना करता है—इस सत्य को तब तक अनुभूत नहीं किया जा सकता है, जब तक कि इस 'मैं' के प्रति तटस्थ होने की स्थिति निर्मित न हो जाए और यह स्थिति कर्मक्षेत्र में तभी आती है, जब जीवन उन अनेक मुठभेड़ों से गुजरता है, जिनमें बाह्याभ्यांतर प्रतिस्मृतियों के माध्यम से एकाकार होने लगता है। यह प्रतिस्मृति सृजन व्यापार में रचनाकार के आत्म उत्क्षेपण से उपजती है। सृजन के सरोकार भले ही स्मृतियों पर आधारित क्यों न हों, इन मोहाविष्ट स्मृतियों से क्यों न एक उपन्यास ही रचा जा सकता है, किंतु उस 'मैं' को जानने के लिए यह गवाक्ष भर होगा—'मैं हूं' का नितांत अनुभव इस सृजन व्यापार से न होगा—इसे तो स्मृति के आर-पार होकर ही पाया जा सकता है—उपन्यास जहां अपने उपसंहरण के अंतिम में होता है—वहां से अपने से तटस्थ होने का यह सिलसिला रमेशचन्द्रशाह की इस टिप्पणी के साथ खुलता है—लेकिन अब स्मृति भर से काम नहीं चलने का; स्मृति के आर-पार जाकर उसे भी लांघकर उस दूसरी स्मृति को उपलब्ध करना होगा, जो मोह नहीं उपजाती, जो मोह को नष्ट करती है, जो उलटे मनुष्य को, इस निजी स्मृति की जकड़बंदी से ही छुड़ाती है सचमुच, उसके सारे कर्म बंधन को, मशीनी कंडीशनिंग को तोड़ती है।'

रमेशचन्द्रशाह के सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'विनायक' में स्मृति और यथार्थ की आत्मकेंद्रित अंतःक्रियाओं का एक लंबा सिलसिला है। विनायक की स्मृतियां भी यथार्थ हैं, किंतु जब कोई यथार्थ स्मृतियों का स्वरूप ग्रहण करता है, तब वह कुछ-कुछ स्वप्न जैसा हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि वह यथार्थ, जो स्मृतियों में आस्तित्व होता है—कल्पना के संयोगों में चेतना में रूपायित होने की निष्पत्ति तक अपने उत्प्रेरणों के आधार पर अपनी सापेक्ष सत्ताओं में प्रकट होता रहता है। विनायक, जो इस उपन्यास का केंद्रीय चरित्र है, अपनी स्मृतियों और अपने यथार्थ के निपट अंतरंग में 'स्व' की संकल्पनाओं को अनजाने में ही तलाश करता रहता है। बुद्धिजीवी की विगलित मानसिकता का छंदो-भंग इस उपन्यास का स्थायी भाव है।

अतृप्तियों का लंबा सिलसिला जिन कुछ मृगतृष्णाओं को सिरजता है, वे विनायक के दुर्बल क्षणों की साक्षी बनकर उसे यथार्थ का सामना करने में सक्षम तो बनाती हैं, किंतु उसका यह अभीप्सित नहीं है—जीवन के जिस सत्य की तलाश उसे है, वह इस कृति

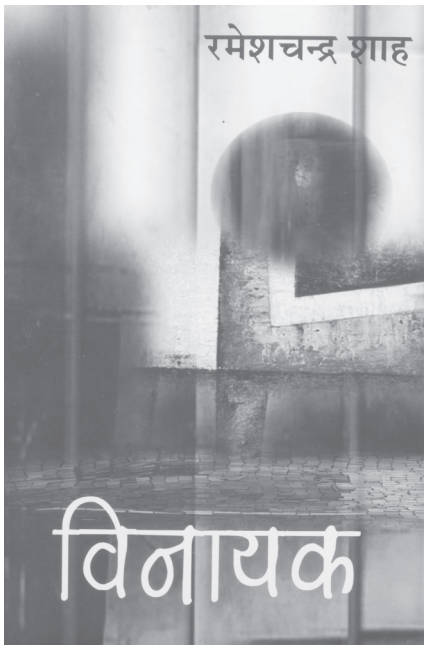

का अनवरत आषंग है। सोच और संवेदना की अनुपातहीन धुरी पर आघूर्णित कथा-चक्र अनेक अंतर्द्वंद्वों के आघातों के मध्य अक्षीय विचलन की स्थिति निर्मित करता है, ये विचलन ही इस औपन्यासिक कृति के मर्मस्थल हैं। इस अर्थ में कि ये स्थल व्यक्ति-मन के अंतरंग को अपनी मार्मिकता में खोलते हैं। सोच और संवेदना की अपनी पक्षधरता में विनायक शंकुतला से कहता है, ''अच्छा तो आप यह कहना चाहती हैं कि सेंसेशन एक कच्ची और बचकानी चीज है, और क्या आदमी, क्या उसकी कविता, दोनों तभी सयाने और पक्के कहलाएंगे, जब सेंसेशन की जगह 'थाट' आ जाएं क्यों'', विनायक उपन्यास की समूची गतिविधियों में इसी सेंसेशन की गिरफ्त में है। वह बार-बार अपने बचपन में लौटता है—बचपन के पहचान चिह्नों की खबर-दबर से वह विह्वल हो उठता है। यही वह विह्वलता है, जो विनायक को धुर बुढ़ापे की ओर जाते हुए भी परितृप्तियां दे जाती है—अन्यथा शरीर की सीमाओं के भीतर बुढ़ापे से लड़ते हुए अपने बनाए संसार की व्यर्थता का बोध फैलते मन को अपने आपसे एक बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ती है—इस लड़ाई को हल्का करती बचपन की स्मृतियां व्यक्ति को आस्थाशील बनाती हैं, तभी तो विनायक की स्थापना है, ''जिसके बचपन में देवताथान की जगह खाली रह गई, उसके भीतर हमेशा-हमेशा के लिए एक खोखल रह जाता है।''

स्मृतियों में प्रवेश करना जीवन से पलायन नहीं है, बल्कि जीवन-संघर्षों के लिए संजीवनी बूटी है। विनायक इस तथ्य को इसी तरह स्पष्ट करता है, ''सारी हाड़मारी, सारी मुसीबतों और सारी गज़ालत के बावजूद हमारे पास एक भरा-पूरा बचपन था, ऐसे संगी-साथी थे, ऐसा देवताथान था, ऐसी धरती और ऐसा आसमान और ऐसे जिंदादिल हीरा-मोती सरीखे लोग, ऐसे मेले कौतुक, ऐसी सदाबहार लीला, जो अभी तक, हां, चालीस वर्षों के वनवास के बावजूद मेरे भीतर ज्यों की त्यों जिंदा है। तो चंदू मैं चाहता हूं, इनको भी पता चले इनकी कैसी क्या विरासत है, जिसमें इनका हिस्सा कोई नहीं मार सकता और जिसे महज जिंदा रखना ही नहीं; आगे बढ़ाना भी इनका धर्म है। चंदू धर्मो रक्षति रक्षितः—हमारे पुरखे जो कह गए, क्या यूं ही कह गए? यह सारी जमापूंजी तुम्हारे लिए, तुम्हें तुम्हारे जीवन-संग्राम में मदद देने के लिए ही है।''

संपूर्ण संवेदना तंत्र का आधारभूत ढांचा बचपन में ही निर्मित हो जाता है—यह ढांचा जितना अतुलगामी होगा—वह उतना ही पुख्ता और दूरलक्ष्यी प्रभावों वाला भी होगा। एक होती है स्मृतियों की दुनिया, दूसरी होती है वह यथार्थ दुनिया, जिसमें बरतते हुए जीवन के विभिन्न दबाव कारगर होते रहते हैं—यह वयस्क होती दुनिया घर-परिवार बसाती, नौकरी-धंधों में उलझती-पुलझती महत्त्वाकांक्षाओं की अखोटिकी प्रवृत्तियों से संधारित होती रहती है। इन तमाम दुनियाओं के बीच गुजर-बसर करते हुए भावुक बुद्धिजीवी की तकलीफ यह है कि वह इनमें संपूर्णता से रम नहीं पाता है। इस ऊबड़-खाबड़ लगते परिदृश्य में जब भी वह उचट्टा खाता है, तब अपने बचपन की स्मृति ढलानों से लुढ़कते-पुढ़कते अपनी चोटों को वह सहलाने की चेष्टा करने लगता है और उसकी स्मृतियों में बर्फ ढकी वे गिरि उपत्यकाएं नमूदार होने लगती हैं, जिनके संसर्ग को वह जीवन की बड़ी उपलब्धियां मानता रहा है—ऐसा इसलिए कि उसके समूचे संवेदन तंत्र का निर्माण इन्हीं संसर्गों का परिणाम हैं। इन्हीं और ऐसे संसर्गों से अपनी अतृप्तियों की ओर इशारा करता विनायक इनकी आपूर्ति की जिन महत्त्वाकांक्षाओं से ग्रस्त हो उठता है, वे महत्त्वाकांक्षाएं एक ही झटके में क्षत-विक्षत हो जाती हैं।

विनायक का यह गहरा अंतर्द्वंद्व जो दुचित्तापन देता है, वह सेसेंशन की पीड़ा का ही लयाघात है—'जिस अनंत रमणीय, किंतु विपन्न परिवेश ने उसके अपने माता-पिता और भाई-बहिनों को मामूली-से-मामूली चीजों तक के लिए आजीवन तरसाया और कलपाया, उससे यह मौलिक प्रतिशोध लिए बिना विनायक को यह मुक्ति भी सचमुच मुक्ति सरीखी कैसे लगेगी' गहरे जाके देखो तो किस कदर घटिया और टुच्ची लालसा है यह। इसे क्या विनायक खुद नहीं जानता, रोआं-रोआं जानता है उसका। इसके बावजूद जिस लालसा को—कह लें, कुंठा को विनायक का सयाना विवेक कभी का नकार के कूड़े में फेंक चुका था, वह क्या अब भी किन्हीं कमजोर क्षणों में उसे दबोच नहीं लेता अपनी गिरफ्त में। अतिरेकी भावुक बुद्धिजीवी का यह कनफेशन और यह आत्म स्वीकृति स्पष्ट करती है कि वह सोचने-विचारने की सीमाओं तक आते-आते आत्म बिखराव की स्थितियों में आने लगता है—यह उसकी अपनी नियति है और यही इस उपन्यास की नियति भी है—बिखराव और अपने से विरुद्ध जाने का बिखराव! यह बिखराव एक अधूरापन देता है और इस अधूरेपन को भरने के लिए इस उपन्यास के अधिकांश चरित्र विकल हैं—उनकी विकलता उन्हें अपने-अपने ढंग से रास्ता बनाने के लिए बाध्य करती है, ये रास्ते जीवन के उन अनेक व्यापारों में खुलते हैं, जिन्हें धर्म-अध्यात्म, समाज-सेवा, राजनीति आदि रूपों में हम जानते हैं।

स्वयं विनायक की अतृप्तियां उसे भटकाती रहती हैं—विनायक का सामना जिन तीन स्त्रियों से पड़ता है, वे हैं विदेशी मित्र मार्गरेट, सहकर्मी प्रोफेसर शकुंतला दुबे और पत्नी मालती। इन तीनों के व्यक्तित्व की निजताओं से टकराता विनायक अपने सेंसेशन की खब्त के चलते—इन तीनों को ही अपने इरादों में मिस करता रहता है। एक फेक्टर है—यहां—जिसे ईगो कहा जाता है—यह ईगो ही अनेक टकराहटें पैदा कर रहा है। मालती और विनायक के ईगो की टकराहट तो उपन्यास में जगजाहिर जैसी ही है, व्यक्तित्व विवेचन की जद में आए विनायक के लिए कहा गया यह जुमला एकदम सटीक है—तुम्हारे अविकसित अतृप्त ईगो की एक ढर्रे में ढले ईगो की अब मालती के खुद के ईगो से टकराहट होना भी अनिवार्य था। ''पुरुष का ईगो है तो स्त्री का भी—बौद्धिक समाज की यह अनिवार्य और अवश्यंभावी नियति है—इसलिए उपन्यास की पक्षधरता किसी एक के ईगो के साथ नहीं है,'' पुरुष को अपना ईगो इतना बेशकीमती लगता है, तो स्त्री को वह जो भी है, वही होने से रोकने वाला पुरुष भी आखिर कौन होता है।' शकुंतला और उसके पति के बीच अलगाव का कारण भी यही ईगो है—वह इमोशनली इंपोटेंट था—तुम्हारी कोमल भावनाओं को जगाने में असमर्थ, किंतु चूंकि उसका पुण्यात्मा ईगो इतना प्रचंड था कि अपने पौरुष को लेकर उसे कभी कोई संदेह सता ही नहीं सकता था, इसलिए वह तुम्हें बर्फ की सिल्ली घोषित करके ही अपनी लंपटता का औचित्य गढ़ता रहा।...'एक इंटेलेक्चुअल

इमोशनली ईस्थेटिकली...हर तरह से सुपीरियर स्त्री के साथ रहने का मतलब है कदम-कदम पर अपनी ईगो को लहूलुहान होते देखना।' यह कथन एक स्त्री का है, जो ईगो के उस रूप को दर्शाता है—जहां पति-पत्नी के बीच बौद्धिक बेमेल, काम-कुंठाओं में परिणत हो जाता है। परिणाम पारिवारिक बिखराव के रूप में प्रकट होते हैं—शकुंतला जैसी बौद्धिक और सधे व्यक्तित्व की महिला अपने कामुक पति के साथ निर्वाह नहीं कर पाती है—अपने गाइड और विभागाध्यक्ष विनायक के अंतरंग में घुसने वाली शकुंतला अपने एकांतिक विह्वल क्षणों में भी विनायक की विगलित प्रणय पराकाष्ठा में अपने सेंसेशन जाग्रत नहीं कर पाती है—परिणाम यह है कि विनायक उसके कदमों में बैठ जाता है—सेंसेसशन जहां प्रतिदान में सेंसेशन नहीं पाता है—वहां वह आत्मग्लानि में प्रकट होने लगता है। शकुंतला अपने बौद्धिक और भावुक स्तर पर पति प्रेरित अतृप्तियों को विनायक के सान्निध्य से आपूरित करना तो चाहती है, किंतु विनायक के लिए उसके मन में जो श्रद्धा भाव है, वह उसे खुलने नहीं देता। मार्गरेट के चरित्र की रचना में उपन्यासकार अधिक सजग इसलिए है कि उसके व्यक्तित्व में वह सेंसेशन और थाट का संतुलन पाश्चात्य स्त्रियों की मानसिकता की तरह पाना चाहता था—भारतीय स्त्रियों की तुलना में कहीं इस चरित्र को अधिक समझदार बनाया गया है। इसके बावजूद मार्गरेट की आसक्ति और अनासक्ति एकदम व्यावहारिक किस्म की है।

व्यक्ति स्वातंत्र्य की खोज भी इस उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण शर्त है—इस हेतु एक सूत्र वाक्य उपन्यास में प्राप्त होता है ''तुम उतने ही स्वतंत्र हो, जितनी स्वतंत्रता की गुंजाइश तुम दूसरों के लिए छोड़ते हो; व्यक्ति स्वातंत्र्य की इस कसौटी पर मार्गरेट का चरित्र अधिक मौजूं है, जबकि उपन्यास के सभी पात्र व्यक्ति स्वातंत्र्य की इस पहल से बहुत दूर हैं—मार्गरेट इस तथ्य को स्वीकार करती है कि विनायक ने अपने सान्निध्य से उसके नारीबोध को जाग्रत किया है—यह बोध मार्गरेट को प्रेम पाने और देने की अपनी सामर्थ्य के उदय और आकलन का अनुभव है—वह यह भी जानती है कि विनायक के साथ ने उसके भीतर स्त्रीत्व के चरम जागरण

और उसके उत्कर्ष की अनुभूति दी है। इतना सब घटित होने के बाद भी मार्गरेट का यह निष्कर्ष ''विनायक तुम्हारा मेरा प्यार अब तक अलग ही आयाम में चला गया है—हमारी-तुम्हारी पहुंच के बाहर। उसे वहीं रहने दो। तुम अपना जीवन जीने को स्वतंत्र हो और मैं अपना। व्यक्ति स्वातंत्र्य का यह दर्शन एक अलग तरह की रागासक्ति, अनासक्ति से जोड़ता है। उपन्यास के अतृप्त-खंडित चरित्र अपने-अपने शरणस्थल की तलाश में जुटे हुए हैं—मालती एक निजी संस्था चलाने में मशगूल हो जाती है—उसका छोटा बेटा; जो विदेश से लौट आता है, अपनी मां के काम में हाथ बंटाने लगता है—विनायक स्वयं अल्मोड़ा की राह पकड़ लेता है—अपनी बाल्य स्मृतियों के पहचान चिह्नों से अपने जब्दी व्यक्तित्व के निस्सारण हेतु। अपनी-अपनी मुक्ति के अपने रास्ते खोलता यह उपन्यास अपनी सामाजिक परिणतियों के सूचनात्मक स्वभाव के कारण भले ही व्यापक और गहरे सरोकारों से अलग-थलग पड़ जाता हो, किंतु मनुष्य के अंतर्लोक को उद्घाटित करने में इसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रहेगी। मानव मन के अनेक आयामों को व्यावहारिक दृष्टि से प्रकट करने में रमेशचन्द्रशाह ने इस उपन्यास में अपनी विदग्धता को अपनी सृजनात्मकता के अनुकूल ही प्रस्तुत किया है।

विनायक/रमेशचन्द्रशाह/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 350

श्री चंडीजी वार्ड, हटा (दमोह) मध्यप्रदेश-470775, मो. 9425405939

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खंडों में

हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति-संवाद)

शोध एवं संपादन

नीलाभ

मूल्य

250/- (प्रति खंड)

1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

स्त्री चेतना के नए स्वर का आगाज

सुनीता गुप्ता

'कस्तूरीगंध तथा अन्य कहानियां' पूनम सिंह का दूसरा कहानी-संग्रह है, जिसमें कुल बारह कहानियां हैं, जो अपने अलग-अलग मूड, तेवर और विषय वैविध्य में हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। पूनम सिंह की कहानियों को एक निश्चित परिधि में नहीं बांधा जा सकता। वह निजता के नितांत अलक्षित कोने को स्पर्श करती हुई समाज के उस सुदूर कोने तक जाती है, जहां वंचितों व उपेक्षितों की दुनिया है। समीक्ष्य कृति में लेखिका ने जीवन के कठिनतर संघर्ष और जटिलतर संवेदना के बीच स्त्री अस्मिता को उसकी समूची गरिमा और भाव संपन्नता के साथ खोजने और प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। स्वयं में आबद्ध मुक्ति की चेतना अपने स्वरूप में एकांगी होती है, पर यही जब अपने आसपास व आगे-पीछे के परिदृश्यों से जुड़ जाए तो उसका आधार सुदृढ़ और आयाम विस्तृत हो जाता है। शीर्षक कहानी 'कस्तूरीगंध' एक ऐसी कहानी है, जो समय समाज की विद्रूपताओं के साथ चलती हुई अपने केंद्रीय तत्त्व 'प्रेम' से कहीं विचलित नहीं होती। कथा की संरचना में लेखिका जिन सोपानों से होकर गुजरती हैं, उनसे जरा-सा भी स्खलन इस कहानी को स्त्री-विमर्श की एक सतही फार्मूलाबद्ध कहानी में परिणत कर सकता था, पर लेखिका ने कुशलता से संतुलन साधते हुए इसे एक उत्कृष्ट कहानी के मुकाम तक पहुंचाया है। स्त्री की पराधीनता और सामाजिक परंपराओं व सांप्रदायिकता के 'अग्निगर्भ' से निःसृत कस्तूरीगंध एक दुस्साहसी नायिका प्रज्ञा की कहानी है, जो स्त्री को हर कैद से मुक्ति का आश्वासन देती है।

प्रज्ञा के पास बनैली स्टेट के अनुभव हैं, जहां स्त्रियां पुरुषों के अश्वमेधी अहंकार के पांवों तले रौंदी जाती हैं।' बनैली स्टेट की पारिवारिक परंपराएं 'पाप का गहरा कुंड' बन जाती हैं, जहां 'सड़ी हुई मछलियों की गंध' आती है। प्रज्ञा की जाग्रत चेतना सुमन के सम्मुख प्रश्नचिह्न खड़ा करती है, ''क्या तुम्हें नहीं लगता सुमन—ये ऊंची जाति, जमींदार घराना, पारिवारिक मर्यादा, कुलीन संस्कार, ये सोशल कम्पलेक्सेज हैं, जो मनुष्य को एक बेहतर इन्सान कभी नहीं बनने देते।'' दीपंकर का उन्मुक्त प्रेम नीलवर्णी आकाश बन कुल-गोत्र, जाति-धर्म-संस्कार व मर्यादा के बंधनों से परे उसे आकाश का-सा विस्तार देता है। प्रेम कस्तूरीगंध बन शरीर को विदेह बना देता है। यह गंध चेतना ही इस कहानी की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इस गंध-चेतना को स्त्री अस्मिता के संदर्भ में भी व्याख्यायित किया जा सकता है। अस्मिता जब तक कस्तूरीगंध की-सी चेतना न बन जाए, तब तक स्त्री-मुक्ति का हर प्रयास अधूरा होगा—उसी तरह जैसे अंडे को असमय तोड़ दिया जाए तो उसका जीव नष्ट हो जाता है, किंतु समर्थ होने पर वह स्वयं ही छिलके को तोड़कर बाहर आ जाता है। लेखिका की इस उक्ति कि 'मुझे पैरों के नीचे समतल जमीन चाहिए—औंधा लटका आसमान नहीं' के संदर्भ गहरे हैं। इस कहानी को स्त्री-विमर्श के काल्पनिक वागजालों से खींचकर धरती पर उतार लाने के प्रयास के रूप में देखा जा सकता है।

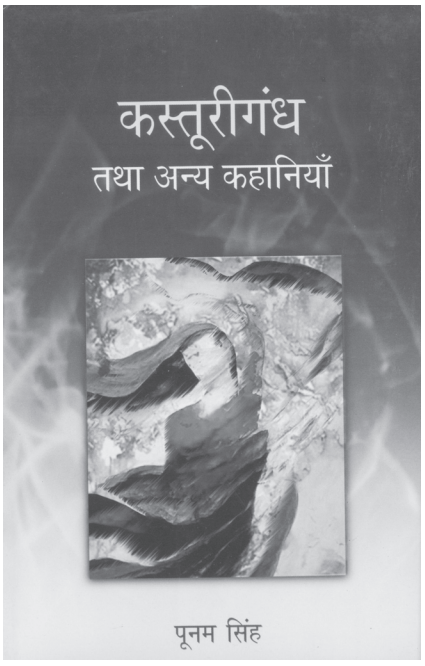

स्त्री-अस्मिता की यह प्रखरता व जीवंत गंध पूरे संग्रह में यत्र-तत्र फैली हुई है। 'कस्तूरी-गंध' की प्रज्ञा के साथ 'पॉल्यूशन मॉनिटरिंग' की अमृता, 'अस्मिता' की शालू, 'उससे पूछो सोमनाथ' की मोना 'बरगद' की तनु—ये नई पीढ़ी की स्त्रियां हैं, अपनी पिछली पीढ़ी के संचित आक्रोश व नए समय के साहस से भरी हुई। 'समर्पण के शिल्प से' आगे बढ़कर 'प्रतिरोध का स्वर' तलाशती ये लड़कियां भविष्य को अपने पक्ष में करने के लिए प्रस्तुत हैं।

'अस्मिता' कहानी की शालिनी मां के द्वारा दिए गए खोंइछे के चावल की परंपरा को ढरका देती है और वस्तु बनने से इंकार कर देती है। इस प्रयास में कभी वह टूटती है, बिखरती है, 'भंवर' में भी फंसती है, पर अंततः अपने जीवन के निर्णय की डोर अपने हाथों में ले लेती है और पुरुष के अहंकार की धज्जियां उड़ाती अपनी अस्मिता के स्वर को खोज लेती है। पुरानी पीढ़ी आशंकित है, ''सारा आकाश का भ्रम एक मरीचिका है शालू, उसके पीछे मत जा, मत जा, मेरी बच्ची!'' पर शालू अपने पंखों से अपना आसमान छूना चाहती है, कहती है, ''यह 'मैं' केवल

पुरुषों को विरासत में मिली चीज नहीं, स्त्रियों के भीतर भी भीगी लकड़ी की तरह रिसता और धुंआता रहता है यह 'मैं'।'' इसलिए वह एक ऐसे अवांछित मातृत्व को नकार देती है, जिसमें वह अनुभूति के रूप में कहीं नहीं है, ''मैं ऐसे शिशु को जन्म नहीं दे सकती, जो मात्र एक पुरुष के भीतर की उष्णता हो और कुछ भी नहीं।''

इस कहानी में स्त्री अस्मिता की प्रखर उद्घोषणा का जो स्वर है, वह अपने स्वरूप में व्यक्तिगत है, पर इसके साथ 'तीली', 'कालभैरवी' और 'भंवर' जैसी कहानियां भी हैं, जो स्त्री-जीवन की सामाजिक विडंबना को उजागर करती हैं।

स्त्री-चरित्र प्रधान कहानियों में पूनम सिंह की 'पॉल्यूशन मॉनिटरिंग' में एक अलग तेवर दिखलाई पड़ता है। इसकी नायिका अमृता स्त्री के विद्रोह को प्रदूषित संस्कृति के पार्श्व में उपस्थित कर स्त्री-जीवन के गहरे संदर्भों को उकेरती है। यह कहानी अपने चारित्रिक गठन व शिल्पगत वैशिष्ट्य में अनुपम है। 'ध्वंस के शेष बिंदु' से 'निर्माण की सापेक्ष स्थिति' पुनः जन्म लेती है। अमृता की कहानी बीसवीं सदी की स्त्री चेतना को नई सदी में एक नई सृजनात्मक धरती देने के उपक्रम को रेखांकित करती है।

पूनम सिंह की अधिकांश कहानियों का स्वर निश्चय ही स्त्री-विमर्शात्मक है, पर वे इन्हीं परिधियों में बंधकर नहीं रह जातीं। उनकी कहानियां घर की दहलीज से बाहर राजनीतिक-सामाजिक विसंगतियों को भी स्पर्श करती हैं। इस दृष्टि से 'सांड़', 'आत्मदाह', 'कालभैरवी' आदि कहानियां उल्लेखनीय हैं। राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार आम लोगों के अधिकारों का हनन करता है। कुछ थोड़े-से लोग पूरी व्यवस्था को अपने अनुकूल बना लेते हैं और दूसरों का हिस्सा हड़पकर सुख-चैन की जिंदगी जीते हैं। विडंबना यह है कि जब कोई व्यक्ति व्यवस्था के विरुद्ध खड़ा होता है तो वह समूची व्यवस्था के मस्तूल में एक छेद प्रतीत होने लगता है और तब उसके पंख इस बेदर्दी से कतर दिए जाते हैं कि वह पुनः उठकर उड़ना तो दूर, खड़ा भी नहीं हो सकता। 'सांड़' कहानी का नायक रोहण ऐसी ही व्यवस्था का मारा एक व्यक्ति है। 'सांड़' संग्रह की श्रेष्ठतम कहानियों में से है। रोहण की चारित्रिक विसंगति को व्यवस्था की विद्रूपता के परिपार्श्व में लेखिका ने अत्यंत सतर्कता से खड़ा किया है। गफूर जैसे व्यक्ति को रोहण के पक्ष में उपस्थित कर लेखिका ने कहानी के प्रतिरोध के स्वर को जो मानवीय स्पर्श दिया है, वह अपने कलात्मक कौशल से इस कहानी को मार्मिक व प्रेरक बना देता है। पाठकों से जगह-जगह संवाद स्थापित कर यह कहानी घटनाओं में पाठकों की भागीदारी सुनिश्चित करती चलती है, जो इसकी संप्रेषणीयता को प्रामाणिकता के धरातल पर ला खड़ा करता है।

राजनीतिक भ्रष्टाचार का दूसरा पक्ष सामने आता है अपराधीकरण के रूप में। भ्रष्ट तंत्र अपने ऊपर कोई आंच नहीं आने देता और इस प्रयास में वह बल का प्रयोग करता हुआ कितना निर्मम हो सकता है, इसे 'कालभैरवी' कहानी में देखा जा सकता है। 'आत्मदाह' एक ऐसी कहानी है, जो बिहार की वित्तरहित शिक्षा व्यवस्था के खोखलेपन को उजागर करती है, जिसकी चपेट में एक समूची पीढ़ी के स्वप्न, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की भ्रूण-हत्या हो जाती है।

पूनम सिंह की स्त्री प्रधान कहानियों में दो तरह की स्त्री-पात्र हैं। एक तो वे जो तटस्थ भाव से स्थिति को स्वीकार करती हैं, दूसरी वे हैं, जो विद्रोह करती हैं। पहले में अंतर्द्वंद्व का अभाव है, जिसे पिछली पीढ़ी के युगीन संदर्भों की अनिवार्य परिणति माना जा सकता है, तो दूसरे में संघर्ष का उत्कर्ष, जो आज की पीढ़ी की उपलब्धि है। उनकी राजनीतिक-सामाजिक विद्रूपताओं की कहानियों में जो संघर्ष का स्वर है, वह समीक्ष्य कहानियों की सबसे बड़ी शक्ति बन जाता है। इन कहानियों को प्रतिरोध का स्वर देकर लेखिका ने समय से आगे ले जाने का प्रयास किया है।

पूनम सिंह की भाषा की तेजस्विता व पारदर्शिता विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है। वह भाषा पाठकों से सीधे संवाद स्थापित करती है—'मेरे साथ आओ और हर घर में देखो—स्त्री सबसे पहले चूल्हे में जलती मिलेगी—बहुत सहज और शांत भाव से मुस्कराती हुई। जलती हुई औरत हँसती क्यों रहती है शालू?' पूनम सिंह की कहानियों का यह भाषागत वैशिष्ट्य उनकी कहानियों के शिल्प को नया सौंदर्य प्रदान करता है।

इन कहानियों में बिंबों का अनायास संयोजन इसे काव्य के धरातल पर ला खड़ा करता है, जो इसमें काव्यात्मकता का पुट तो भरता ही है, साथ ही कथ्य को भी स्पष्ट करता चलता है, ''ये सारे खाए-अघाए लोग हैं, जो दूसरों के हिस्से की हँसी हड़पकर अट्टहास करते हैं। इनकी हँसी में संक्रमण के विषाणु रहते हैं, जो कभी भी किसी स्वस्थ व्यक्ति के भीतर प्रवेश कर उसे दूषित कर सकते हैं।'' इसी प्रकार, ''देह की एक-एक शिरा बारूदी सुरंग बन गई।'' इनके साथ ही दूसरी तरफ इस प्रकार की भी पंक्तियां हैं, जहां कविता की स्निग्धता का आभास होता है, ''उसके सीप जैसे खुले होंठों पर समूची पृथ्वी की राग-भरी एक सांस दीपशिखा-सी लहरा रही थी...। मेरी बांहों में एक नीलवर्णी आकाश अबोध शिशु-सा बेसुध पड़ा था...'' या ''मैं आकाश के चांद को अपने आंगन की मुंडेर पर बैठा देख रहा हूं।'' और यह भी, ''तुम साथ होती तो इस मौसम में मन इस तरह हिरना-बिरना तो न होता...।'' ऐसे उद्धरणों में कथा-लेखिका पूनम सिंह की भाषा पर कवयित्री पूनम सिंह की काव्य-भाषा का वर्चस्व दिखाई देता है, परन्तु इससे कथा का शिल्प कहीं भी कमजोर नहीं होता। ऐसी भाषा लेखिका के रचनात्मक मानस में निरंतर उथल-पुथल के अंतर्द्वंद्व से सहज निःसृत है। गद्य जब काव्य के रस से संपृक्त हो जाए तो उसकी सफलता स्वयंसिद्ध हो जाती है।

इस संग्रह में कुछ कहानियां ऐसी भी हैं, जो सायास निष्कर्ष पर पहुंचकर समाप्त की गई प्रतीत होती हैं। इन कहानियों का अंत निश्चय ही विस्तार की अपेक्षा रखता है।

कुल मिलाकर समीक्ष्य कृति की कहानियां स्त्री अस्मिता के नए स्वर का आगाज करतीं, अराजक व्यवस्था और जीवन की त्रासद विडंबना को गहरी अर्थवत्ता प्रदान करती हैं।

'कस्तूरीगंध तथा अन्य कहानियां/पूनम सिंह/किताबघर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 140

3806, साईं कारनेशन, बहादुरपुर पेट्रोल पंप के निकट, केकड़बाग, मेन रोड, पटना-800020 मो. 09473242999

दिव्या माथुर की कहानियां

संगम पांडेय

लंदन की रहने वाली दिव्या माथुर की हिंदी के प्रवासी कथा-साहित्य में अपनी एक विशिष्ट शैली है। उनकी कहानियां सरपट भागती हुई-सी हैं। गढ़न नाम की कोई चीज अगर होती है तो वह उनकी कहानियों से सिरे से गायब है। मालूम पड़ता है कि उन्हें कोई प्लॉट सूझा और उन्होंने झटपट उस पर एक कहानी लिख डाली। इस तरह पेश होने वाले नैरेटिव में जो चीज सबसे खास दिखाई देती है, वह है उनका प्रेक्षण। उनके संग्रहों—'पंगा और अन्य कहानियां' तथा '2050 और अन्य कहानियां'—में एक बेबाक यथार्थ मानो सरसरी तौर पर पेश होता है। दुनियावी यथार्थ की अच्छी परख और उसका बेबाक बयान इन कहानियों की एक बड़ी विशेषता है, लेकिन मात्र इतना ही नहीं है। उनके यहां जिंदगी के वर्तमान का एक बड़ा विस्तार भी दिखाई देता है। उनके प्लॉट इंग्लैंड के छोटे-बड़े शहरों की जिंदगी, हिंदुस्तानी आदतों और यहां की अपनी हकीकत और इन दोनों हकीकतों को रूबरू करते हैं। हकीकत की इस पेशेनजर में कहीं कोई हिंदुस्तानी किस्म का भाववाद नहीं है।

दिव्या माथुर यथार्थ के 'केऑस' या कहें कि उसके दुर्द्धर्षपन का ठोस चित्रण करती हैं। उनके पात्र कई बार अपनी बेवकूफी में या अपने लालच में या अपने ऊटपटांगपन में फंसे हुए हैं, और बर्बाद होने को अभिशप्त हैं। इसी के समांतर वे व्यवस्थित दिखते विदेशी समाज में यथार्थ के ऐसे भीषण चेहरे भी दिखाती हैं, जहां पात्रों की लाख समझदारी भी उन्हें बचा नहीं पाती। उदाहरण के लिए कहानी 'खल्लास' की रोजी। संक्षेप यह कि उनकी कहानियां व्यक्ति की नियति के लिए समाज, व्यवस्था, रूढ़ियां, सवर्णवाद, पूंजीवाद, ईश्वरवाद को कोसे जाने की भारतीय कथा परंपरा से इतर खुद उसके भीतर की बनावट को टटोलती हैं। जाहिर है हमारे मुकम्मल यथार्थ का एक आयाम हमारा 'भीतर' भी होता है। साथ ही ये कहानियां निरे भीतर ही नहीं, पर्याप्त बाहर का भी जायजा लेती हैं। उनके प्लॉट दैनंदिन की जिंदगी की विसंगतियां से उठाए गए हैं। दिव्या माथुर इन विसंगतियों की थाह लेते हुए मानो जीवन में चल रही गड़बड़ियों की वजहों का पता लगाती हैं।

कहानी 'तुम नहीं सुधरोगी, रूना' में दो अधेड़ स्त्रियों की बातचीत दिखाई गई है। फोन पर हो रही बातचीत में उनकी दुनियाएं सामने आती हैं। आधी रात को दो ड्रिंक ले चुकी रूना गीता से कह रही है—'माई हार्ट इज सिंकिंग गीता। प्लीज कम, आई बेग यू।' उसे अपने तीस साल के बेटे की फिक्र हो रही है, जो कार लेकर गया हुआ है और अभी तक नहीं आया, लेकिन गीता को अपनी सहेली की बेसिर-पैर की फिक्रमंदी में कोई रुचि नहीं।

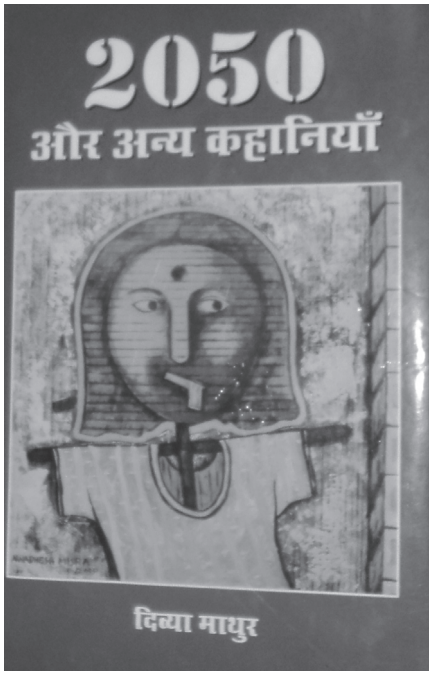

वह जानती है कि उसकी सहेली कुतर्की भावुकता की शिकार एक परंपरागत भारतीय मां है, जो बेटे की बेवकूफियों पर पैसा लुटा रही है, और उसका कुछ नहीं किया जा सकता। टेलीफोनिक बातचीत में बन रही इस कहानी को बड़ी आसानी से रंगमंच के लिए एकांकी की शक्ल दी जा सकती है।

दिव्या माथुर की कहानियों में कहानी का बाहरी ढांचा बहुत कम है। वे बिल्कुल 'बात बोलेगी हम नहीं' के दो टूक ढंग से अपने कथानक पर केंद्रित रहती हैं, यानी उनके यहां यथार्थ इतना ठोस है कि उसकी किसी बाहरी भंगिमा की उन्हें जरूरत ही नहीं है, लेकिन कथानक की इस टु दि प्वाइंट विवरणात्मकता की अपनी सीमा भी है। जिन कहानियों में वे किसी फंतासी को विषय बनाती हैं, वहां इसकी लड़खड़ाहट बिल्कुल साफ दिखती है। जैसे कि कहानी 'पुरु और प्राची'। बीकानेर के धनाढ्य परिवार की चांद की सैर की इस कहानी में कोई रोचकता नहीं है। देसी मां-बाप विदेश में रहने वाले बेटे और उसकी विदेशी बीवी की चांद की सैर की ख्वाहिश में शामिल हो जाते हैं। लेखिका स्थितियों के सारे अंतर्विरोधों को अपनी फंतासी का किस्सा कहने की स्वेच्छाचारिता की भेंट चढ़ा देती हैं। हालांकि उनकी कहानियों में इस स्वेच्छाचारिता के साथ-साथ बोली-बानी के कई मुश्किल, लेकिन सुघड़ प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। कहानी ठुल्ला किलब में बूढ़ी पुष्पा और जिया की बातचीत में यह चीज देखने लायक है। 'मैं तोसे कहूं पुस्पा, म्हारा बस एक ई देवर है जैपुर में। उसकी बिटिया की मरी सादी में जाना तो दूर म्हारी बऊ ने एक लायलोन की धोती भिजवाय दी। ऐसी सरम आई कि पूछो नईं।'...'मैं तोसे कऊं पुस्पा, बित्ता भर की छोकरी, सुना बरमी के गाम में दांतन की डागडरी कर रई है। म्हारी दाढ़ दुख रई थी। मैनू से कई कि

जरा झांक ले। फट से बोली, 'क्लिनिक में आओ तो देख देंगे। हमें का फायदा ऐसी डागडरी का...मैनू की सास नईं दिख रई।'

दिव्या माथुर जीवन को विहंगम दृष्टि से देखते हुए इतने तरह के प्लॉट निकाल लाई हैं कि मालूम देता है मानो प्रवासी जीवन का शायद ही कोई संदर्भ हो, जो इन दोनों संग्रहों में छूटा हो। कहानी 'तमन्ना' में देश से ब्याहकर लाई गई बहू लगातार तनावग्रस्त है। झांसी में उसके घर के पड़ोस का विवाहपूर्व का सड़कछाप प्रेमी उसे धमकीभरे खत लिखता है। सास इस मनःस्थिति और स्थिति दोनों को जानती है। यह एक स्त्री का स्त्री को जानना भी है। इसीलिए वो उससे कहती है—'दीज आर अवर सीक्रेट्स।...निखिल को कभी पता भी लगा गया तो मैं तुम्हें उसके भी कुछ सीक्रेट्स बता दूंगी। हिसाब बराबर।'

इसी तरह कहानी के मूल पाठ में परदेसी समाज की दैनंदिनी के कुछ स्ट्रोक्स भी देखने लायक हैं। मसलन कहानी 'बचाव' की ये पंक्तियां—'ट्रेन में निंदिया को चटाक से बैठने की जगह मिल गई थी हालांकि डिब्बा खचाखच भरा था। अधिकतर डंडे पर लटकते होता है उसका सफर। हालांकि दो गोरे और एक काली खड़े रहे और वह अचकचाती बैठ गई। अजीब हैं ये लोग, न इन्हें लपककर बैठने का मन होता है और न ही घर जाने की जल्दी। घंटों या कई दिनों तक बस या रेल न आए, इनके मुंह पर शिकन नहीं आएगी। ऐसे अखबार पढ़ते रहेंगे जैसे इम्तहान लिया जाने वाला हो। दिल्ली होती तो लोग चपर-चपर करते, नारे लगाते, गालियों पर उतर आते। इनके लिए तो कोई उद्घोषणा हो तो ठीक, न हो तो ठीक।' या 'तीन-तीन पाउंड्स प्रति घंटा काम करने वाले ये इलीगल इमिग्रंट्स, जो न जाने कौन-कौन देशों से बोरों में भरकर लाए जाते हैं, यहां के महासमुद्र में गायब हो जाते हैं। सुना है कि एक कमरे में तीस-तीस जन सोते हैं, पालियों में। रात में काम करने वाला बंदा यदि रात को बीमार पड़ जाए तो उसे लेटने के लिए सुबह का इंतजार करना पड़ता है। निंदिया को लगा कि ऐसा भी क्या है इस देश में कि लोग चले आते हैं धक्के खाने। घटिया खाना, बदबूदार बिस्तर, आधी-अधूरी नींद और सोलह से अठारह घंटे काम करके भी इन्हें चैन नहीं। न जाने कब पुलिस आ दबोचे और जेल में बरसों के लिए डाल दे।' कहानी की नायिका निंदिया भारत में घर के अपने बदतर हालात से भागकर लंदन पहुंची है, जहां पुराने कपड़े आदि खरीदकर काम चलाते हुए उसे एक अस्थायी नौकरी मिलती है। उसे एयरपोर्ट पर आ रहे बड़े साहब को रिसीव करने का विशेष काम सौंपा गया। मौके का फायदा उठाते हुए उसे वेतन वृद्धि की एक याचिका साहब को देने का काम उसके साथी कर्मचारियों ने भी दिया है, पर निंदिया को वहां एक अलग ही स्थिति का सामना करना पड़ता है। बड़े साहब उसका फायदा उठाने पर आमादा हैं। निंदिया ऐसे में बाथरूम में गर्म उबलते पानी की धार को नंगे खड़े बड़े साहब की टांगों के बीच छोड़ देती है।

दिव्या माथुर के पात्र प्रायः दुनियादार, किस्म के हैं। विचार उनके निजी फायदे और नुकसान का एक समीकरण मात्र है, लेकिन इसमें यदा-कदा निंदिया जैसे पात्र भी हैं; जिसके वजूद की पुकार उसे एक-एक गैर दुनियादार निर्णय लेने को बाध्य करती है। उनके पात्र विभिन्न प्रांतों से जाकर लंदन में बसे भारतीय हैं। प्रगतिशील हिंदी साहित्य के पात्रों की तरह वे किसी जीवन-मूल्य से नहीं, बल्कि एक व्यावहारिकता से बंधे हैं। दिव्या माथुर इस व्यावहारिकता की हिप्पोक्रेसी और उसकी मौकापरस्ती और इन दोनों के नीचे छिपी असली चीज—जीवन को ज्यादा-से-ज्यादा भोग लेने की चाहत—के कई 'आधुनिक' कथानक अपनी कहानियों में पेश करती हैं। कहानी 'नीली डायरी' का नायक नए आबाद हुए पड़ोस के घर की तीन औरतों—मां, बेटी और बहू—पर एक साथ डोरे डालते हुए असमंजस में है कि इनमें से किसे वह अपने जीवन की सौवीं औरत बनाए। कहानी आगे बढ़ती है तो पता चलता है कि उसकी यह मंशा एकतरफा नहीं है। स्त्रियों के जीवन में काफी कुछ ऐसा है कि वे कथानायक का शिकार बनने को आतुर हैं।

उनके दूसरे संग्रह की शीर्ष कहानी '2050' में एक ऐसी व्यवस्था का चित्र है, जहां समाज को ज्यादा संपूर्ण बनाने की विधियों ने उसे अमानवीय होने की हद तक यांत्रिक बना दिया है। दंपतियों में बच्चा पैदा करने के लिए एक निश्चित आई क्यू होना अनिवार्य है। इसके साथ ही पर्सनैल्टी के नंबर भी जोड़े जाते हैं। प्रशासन जगह-जगह माइक्रोफोन लगाकर लोगों की बातचीत और इरादों पर पूरी निगाह रखता है। साथ ही एक ऐसी दोयम नस्ल तैयार करने की भी कोशिशें चल रही हैं, जिसमें हट्टे-कट्टे; लेकिन दिमागी तौर पर कमजोर लोग पैदा किए जाएंगे। आत्महत्या भी नहीं की जा सकती, क्योंकि उसके लिए आत्महत्या परामर्श परिषद की इजाजत लेना जरूरी है। दिव्या माथुर इस कहानी में यांत्रिकता की फंतासी को एक अद्भुत ऊंचाई पर ले गई हैं,पर उसका निहितार्थ समझ नहीं आता। शायद इसके पीछे प्रवासी जीवन की असुरक्षा एक वजह हो,क्योंकि कहानी में एकाध जगह गोरे और काले वाला संदर्भ दिखाई देता है। अन्यथा कहानी में कहीं कोई राजनीतिक कोण नहीं हे। व्यक्ति स्वातंत्र्य की हिमायत पश्चिमी समाजों के विकास का एक बुनियादी आधार रहा है। यही आधार एक उदार विश्व दृष्टिकोण में तब्दील होकर पिछड़े एशियाई देशों से बड़े पैमाने पर प्रवास की वजह बना। अगर लेखिका बड़ी तादाद में यूरोप जा बसे प्रवासियों के खिलाफ पनप रहे मूल निवासियों के क्षोभ की कोई फंतासी बनातीं तो शायद उसकी यथार्थसम्मतता उसे ज्यादा रुचिकर बनाती, लेकिन ऐसा न होने से उनकी यह कहानी महज एक काल्पनिक किस्सा बनकर रह गई है, या उनकी यह कहानी चीन में रहकर लिखी गई होती, जहां पिछले चालीस सालों में 'एक बच्चा नीति' को सख्ती से लागू करने में कई 'अमानवीय' पहलू देखे गए हैं।

इन दोनों संग्रहों से गुजरते हुए दिव्या माथुर सहजानुभूति की कथाकार मालूम देती हैं और यही चीज इनकी पठनीयता की असली वजह है। उनकी कहानियां एक शुद्ध पाठ हैं। बौद्धिक आडंबर तो दूर, उनमें नैरेटिव की कोई अदा या सुविचारित भंगिमा तक नहीं है। यह चीज एक अर्थ में इनकी सीमा भी है, क्योंकि इस तरह से यथार्थ अपने 'ऑरा' से निरपेक्ष एक भौतिक इकहरेपन में पेश होता है। और किसी रचना को एक बड़ी और स्मरणीय रचना बनाने में प्रत्यक्ष आशय से जुड़ी आख्यान की छवियों की कारगुजारी एक बड़ा सबब होती है।

'पंगा और अन्य कहानियां'/दिव्या माथुर/ मेधा बुक्स, एक्स-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032/ मूल्य : ₹ 300

'2050 और अन्य कहानियां'/दिव्या माथुर/डायमंड पाकेट बुक्स, एक्स-30, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-2, नई दिल्ली-110020/मूल्य ₹ 300

बी-601, गार्डन अपार्टमेंट्स, 11/1, सेक्टर-4, वैशाली, गाजियाबाद मो. 09810880442

रोजमर्रा की आबोहवा में बहता शीतल मंद बयार

नीलाभ कुमार

नीलम शंकर के इस पहले संग्रह की कहानियां ताजा हवा के उन झोंकों की तरह हैं, जो आते हैं, शरीर को स्पर्श करते, गुदगुदाते हुए धीरे-से आगे निकल जाती हैं। इन कहानियों में न तो किसी सैद्धांतिक आइडियालॉजी का पिष्टपेषण है, और न ही इनमें भाषायी चुहलबाजी। ये कहानियां जीवन में घटित होने वाली रोजमर्रा की घटनाओं को अभिधेयात्मक ढंग से उकेरित चलती हैं। संग्रह 'सरकती रेत' में कुल सोलह कहानियां हैं। संग्रह की पहली कहानी 'रामबाई' अपने कथा-विन्यास की सुघड़ता की चाह में शुरू होती है और अंत तक यह चाह बनी ही रहती है। कहानी को सार्थकता-असार्थकता के लिहाज से देखे जाने पर पाठकों में भले ही कुछ असंतोष पैदा करे, लेकिन पाठक वर्ग के संतोष का पहलू कहानी 'रामबाई' में चित्रित किसी गहन फ़लसफ़े के बिना स्त्री-सशक्तिकरण की आवाज को बुलंद करती रामबाई के चरित्र में दिखाई दे सकता है। रामबाई बलिया के कैथी-कलां गांव की एक गरीब परिवार की स्त्री है, जो अपनी सुंदरता से किसी भी वर्ग के लोगों के लिए रश्क का विषय है। रामबाई का जो चरित्र निर्मित हुआ है, उसमें उसकी अपनी समझदारी का बड़ा हाथ है। रामबाई की समझदारी का ही फल है कि वह रेजा से राजमिस्त्री बनती है, जो पुरुषों के लिए ही नहीं, स्त्री जाति के लिए भी रश्क का कारण बनता है। लोग इसे नहीं सह पाते कि आखिर एक स्त्री होकर रामबाई कैसे राज मिस्त्री का काम करने लगी है! ''एक रेजा मिस्त्री बन गई। शहर में पहली बार ऐसा हुआ था।'' (नीलम शंकर—'सरकती रेत', वाणी प्रकाशन, सजिल्द प्रथम संस्करण, 2010, पृष्ठ संख्या-19)।

संग्रह की अगली कहानी 'केवल मेरी सुनो' दादा पिनाकी चक्रवर्ती के उस अहं को तुष्ट करती जान पड़ती है, जिसमें वह अपने सिवाय किसी दूसरे की सुनना तभी तक पसंद करते हैं, जब तक कि उनके अहं को किसी तरह की ठेस न पहुंचे। अपने इस अहं की तुष्टि के लिए न तो वे अपनी दूसरी पत्नी की स्वतंत्रता को स्वच्छंदता की हद तक जाने देने की छूट देने को तैयार थे और न ही अपने घरेलू नौकर कानू को टेलीविजन पर बाल श्रम निषेध परिचर्चा नामक कार्यक्रम देखने और अखबारों को उलटने-पुलटने की छूट देने को ही तैयार थे। कहा जाए कि हमेशा अपना रौब ग़ालिब करने को तैयार। '' 'अपनी औकात में रहो,पढ़-लिखकर हम पर रौब ग़ालिब करोगे? मेरे पास रहना है तो 'केवल मेरी सुनो', टी.वी., पत्र-पत्रिका, अखबार से अपने आंख-कान

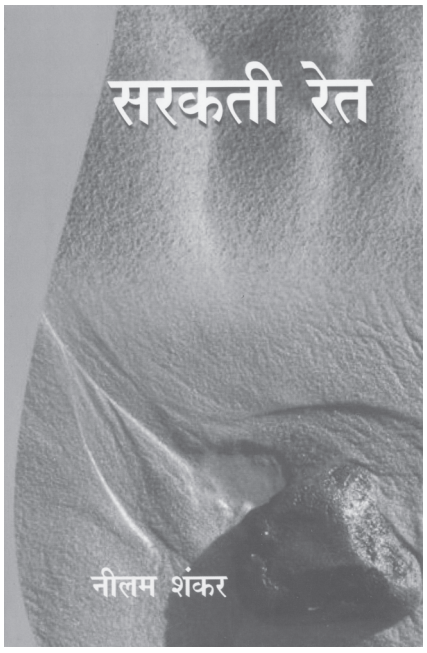

सुन्न रखना, समझे।' '' (उप. पृ.सं. 37)।

'अपना रास्ता लो बाबा!' कहानी के शीर्षक से ऐसा लगता है कि किसी व्यक्ति से कोई दूसरा व्यक्ति या कोई परिवार इतना आजिज आ चुका है कि उसे अपने घर में रखना बड़ा मुश्किल है,लेकिन कहानी से कहीं ऐसा आभास तक नहीं होता; उल्टा यह लगता है कि निर्मला द्वारा उस अपरिचित व्यक्ति के लिए किए गए एहसान से उस अपरिचित व्यक्ति की जान जो सांसत में पड़ी दिखाई दे रही थी; जैसे नया जीवन मिल जाता है।

निर्मला का चरित्रगत वैशिष्ट्य, जो उसकी अपनी थाती है, से निर्मित उस पूरे परिदृश्य का; जिसमें कि उसके घरवाले की रत्ती भर इच्छा नहीं होती कि घर में किसी अपरिचित व्यक्ति को शरण दी जाए, लेकिन निर्मला की परोपकारिता आदि अच्छाइयों के आगे घरवाले बेमन कुछ कह नहीं पाते और निर्मला द्वारा शरण दिए गए उस अपरिचित की जान बच जाती है। भला इससे बड़ा चारित्रिक मूल्य क्या होगा!

कहानी 'ठूंठ' विधवा समस्या को बड़ी नज़ाकत से उठाने का यत्न करती है। कहानी को प्रतिरूप मानकर कहा जाए तो कहा जा सकता है कि विधवाओं के जीवन में समस्याएं-ही-समस्याएं होती हैं, यहां तक कि उन्हें अच्छा न दीखने के लिए उनके बाल तक मुंडवा दिए जाते हैं। यह समाज का एक पहरा, जो आजीवन विधवाओं के पैरों में बेड़ियों के रूप में बांध दिया जाता है, उसे न तो वे हटा सकती हैं और न ही उनसे छुटकारा पाने का कोई यत्न ही कर सकती हैं। छोटी और बड़ी फुआ का विधवापन ऐसी ही बेड़ियों में बंधकर आजीवन जीने को अभिशप्त है—ठीक उस ठूंठ वृक्ष की भांति; जिसमें किसी भी प्रकार

से हरियाली नहीं आ सकती। थोड़ा विचित्र यह लगता है कि ठूंठ होने का कारण लेखिका को 'सब भगवान की माया' (उप., पृ.सं. 72) दिखती है।

एक आप्रवासी भारतीय परिवार की विडंबनात्मक स्थिति को बयां करती चलती है; कहानी—'उनका...लौटकर आना'। विडंबनात्मक स्थिति यह है कि जहां सुशील और शिखा अपनी नौकरी के बायस अमेरिका चाहकर भी नहीं छोड़ पा रहे हैं, वहीं अपनी दोनों बच्चियों तनु और मनु को चाहकर भी अमेरिका नहीं ले जा पा रहे हैं, क्योंकि ''बचपन में ही वह इंडिया में एडजस्ट हो पाएंगी अन्यथा उन्मुक्त जीवन-शैली की आदी हो जाने पर यहां पर हरगिज तैयार नहीं होंगी।'' (उप., पृ.सं. 90)। लेखिका की नजर में अमेरिका आदि पश्चिमी देशों में रहकर पैसा तो कमाया जा सकता है, लेकिन वह सभ्यता-संस्कृति नहीं, जो भारत जैसे देश में रहकर अपनाई जा सकती है। यह दो संस्कृतियों का 'क्लैश' है, जिसमें लेखिका की नजर में भारतीय संस्कृति की आबोहवा अमेरिकी संस्कृति से काफी बेहतर है; जीवन जीने लायक जिंदगी प्रदान करने में सक्षम है।

कहानी 'विडंबना' की विडंबनात्मक स्थिति किशन शर्मा की उस झुंझलाहट में दिखाई देती है, जिसमें वह तांत्रिक बनने पर विचार करने को मजबूर हो चले थे। उनके जीवन में ऐसी स्थिति उस पूरे विडंबनात्मक परिदृश्य से ऊपजी थी, जिसमें बने-बनाए सामाजिक ताने-बाने में समाज में निम्न कुल जाति का समझा जाने वाला व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति के कुछ सुधर जाने के बाद अपनी सामाजिक हैसियत में भी अचानक से उफान आया देखने लगता है, पर सामाजिक ताने-बाने में इतना आसानी से कहां पचता कि कोई निम्न कुलोत्पन्न व्यक्ति आसानी से अपनी सामाजिक स्थिति को लांघ जाए! इसी सामाजिक विडंबनात्मक स्थिति में किशन शर्मा और उसका पूरा परिवार जीने को जैसे अभिशप्त था!

बबिता का पति, लंबे आब्सेसन में रहने के बाद सिजोफ्रेनिया का शिकार हो गया था। सिजोफ्रेनिक व्यक्ति के साथ अपनी बची लंबी जिंदगी को गुजार न पाने की उकताहट ही उस स्थिति के लिए जिम्मेदार थी, जो

बबिता को अपने देवर के साथ आशनाई के लिए खींच लाई थी। कहानीकार मर्सी किलिंग को जायज मानती दिखाई देती है; जब शरीर अशक्त हो जाए, कुछ काम करने लायक न रह जाए। ''पीड़ा देते संबंधों की मर्सीकिलिंग क्यों नहीं होती है। होगी, अवश्य ही होगी।'' (उप., पृ.सं. 134)। यह थोड़ा अचंभित भी करता है कि एक पत्नी अपने पति को इसलिए छोड़ देने को तैयार है कि वह सिजोफ्रेनिक हो गया है। अपने पति को छोड़ देने का मामला इस भारतवर्ष में इतना आसान नहीं है। और इससे भी कठिन है जीवित पति को छोड़कर घर में ही रहने वाले देवर से आशनाई कर लेना। देवर-भाभी का भी एक मान्य रिश्ता है, जिसके अपने बंधन हैं, अपनी सीमाएं हैं। एक सीमा के बाद आगे बढ़ने की छूट वह नहीं देता। कहानी शीर्षक 'जो रुकता नहीं' जैसे इस बात की ओर इशारा करता जान पड़ता है कि ऐसी स्थिति एकाध नहीं, हमारे भारतीय समाज में बहुधा देखने-सुनने को मिलती रहती है।

कहानी 'हेठी' नैरेटर के उस हठ की ओर इशारा करती जान पड़ती है, जिसकी वजह से उसके पिता की अकाल मृत्यु हो जाती है। नैरेटर के पिता, जो लखनऊ के एक मकान में किराए पर रहते हैं और नैरेटर स्वयं इलाहाबाद के अपने मकान में रहता है। लखनऊ मकान मालिक की रोज की चिक-चिक की वजह से नैरेटर के पिता इतना आजिज आ चुके होते हैं कि उनका ब्लडप्रेशर बढ़ जाता है और यही बढ़ा हुआ ब्लडप्रेशर एक दिन अचानक उनकी अकाल मृत्यु का कारण बन जाता है। नैरेटर के उस हठ को कहानी बखूबी प्रतिबिंबित करती है, ''आदमी एक गज नहीं हारता, लेकिन नौ गज हार जाना कुबूल करता है।''(उप., पृ.सं. 154)।

अकेलेपन और उससे उपजी वृद्धों की त्रासदायक स्थिति का चित्रण करती है कहानी, 'मेरी पड़ोसन का दोस्त'। ''देखो संध्या बुढ़ापा एक अजीब जैसी अवस्था है, जिस पर लाचार अस्वस्थ शरीर। क्या तुम्हारे पास समय और सहनशक्ति है, तुम पिताजी के पास बैठकर बातें करो।'' (उप., पृ.सं. 160)।

'प्रतिशोध' छाया द्वारा अपनी शादी के तीन दिनों बाद ही अपने पति द्वारा जला दिए जाने का बदला चुकता करने की कहानी है। यह उस महिला के सशक्त होने की आवाज है, जो इक्कीसवीं सदी में अपने अधिकार और रक्षा की खातिर पुरुषों से प्रतिशोध लेने से बाज नहीं आ रही है। ''कहती रही वो हमारा चेहरा बरबाद किया, हम उसका जोश-जिंदगी सत्यानाश कर दिए। अब उसे मनई-मेहरारू के बीच नहीं, छक्कों की टोली में ही पनाह मिलेगी।'' (उप., पृ.सं. 174)।

संग्रह की अंतिम कहानी 'मरदमारन' सलोनी के माध्यम से स्त्री-जाति के सशक्तिकरण की अनुगूंज है। कहानीकार समाज के बनाए एक नैतिक मापदंड पर कि यदि पति के जीवित रहते स्त्री अपने घर का सारा काम-काज संभाले तो जरूर उसमें कोई-न-कोई खोट ढूंढ़ लिया जाता है, पर सलोनी के चरित्र के माध्यम से आवाज उठाती दिखाई देती हैं। सलोनी, जो कामकाजी है, रस्मों-रिवाजों को बखूबी समझते हुए पति की लापरवाही और आवारगी की वजह से घर के सारे कार्यों को बखूबी निपटाती है। यदि ऐसी स्त्री को समाज में रहने वाले लोग मरदमारन या कोई और नाम भी दें तो भी उसे स्वीकार है।

सरकती रेत/नीलम शंकर/वाणी प्रकाशन/21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 295

द्वारा—श्रीयुत् श्रीकांत झा (आशा निवास), पथ सं.-14ब, राजीवनगर, पटना (बिहार)-800024, मो. 09386979711

अशेष संभावनाओं का प्रतिरोध

प्रमोद चतुर्वेदी

मानवता में अस्तित्वबोध की नई ऊर्जा एवं संभावनाओं को लेकर कवि जयप्रकाश मानस का नया काव्य-संग्रह 'अबोले के विरुद्ध' साहित्य, समाज एवं व्यक्ति की नई भूमिका को रेखांकित करता है।

संग्रह का शीर्षक है—'अबोले के विरुद्ध'। प्रश्न है—अनबोला क्या? अनबोलता कौन? वैसे तो संपूर्ण संग्रह में एकतार व्याप्त स्व की तलाश इसे स्पष्ट कर देती है, किंतु दबे हुए अस्तित्व से साक्षात्कार का प्रयास करती हुई कविता 'तो' आधुनिक मानव के एकाकीपन, अजनबीपन और आत्मविस्मृति के विरुद्ध 'बोलने' का प्रयास है—

कुछ तो बतियाओ
कि वह निहायत अबोला न रह जाए।

यहां पर 'वह' मानव का वह बोध है, जो भागमभाग की जिंदगी में बहुत पीछे छूट गया है, बहुत गहरे दब गया है। अस्तित्वबोध की अन्य कविताओं 'इधर बहुत दिन हुए', 'कोई नहीं है बैठे-ठाले', 'आप किधर जाना चाहेंगे?', 'निकल आ', 'झाड़ू', 'गिरूंगा तो उठूंगा', 'निहायत छोटा आदमी', 'रुमाल', 'लड़की का बयान' आदि में भी अस्मिता से साक्षात्कार की बेचैनी है। कवि नए जमाने के शिक्षित युवावर्ग के समझौतावादी रवैये और लिजलिजेपन को रेखांकित करता है—

रीढ़ की हड्डी को तानकर/रख पाया नहीं कभी/आत्महंता प्रश्नों को टालता रहा हर बार/एक बार भी/न चीखा न चिल्लाया।

समाज में श्रमजीवी और नेपथ्य में भूमिका निभाने वाले लोगों की उपयोगिता सामाजिक ढांचे के आधार के रूप में कितनी अधिक है, यह कवि ने महसूस किया है। कुंठा, निराशा, तनाव और मानसिक द्वंद्व भरे आधुनिक समाज में अस्तित्व के संकट की तरफ इशारा करती अनेक कविताएं कवि की गहन मानसिक अनुभूतियों एवं द्वंद्व के क्षणों की पड़ताल करती रचनाएं हैं। आधुनिक समाज में उद्‌भूत नित नूतन प्रतिस्पर्धा एवं उनकी वजह से जन्मा एक अदृश्य भय हमारे चारों ओर के वातावरण में गहन अंधकार की तरह व्याप्त हो गया है। अपनी 'निकल आ' कविता में कवि की चिंतना का यही केंद्र है—

प्रकाशित नहीं कर पाती बाहर की दुनिया
कि ठीक-ठाक देखा जा सके भीतर तक
ऐसे में कई बार खतरा होता है
अनस्तित्व होने का

इस समस्त संकट का हल कवि ने आत्मविस्तार की चेतना के रूप में प्रस्तुत किया है, ''ओ सशंकित मन/निकल आ बाहर/इधर/अपनी गुहा से।'' यहां अपने खोल से निकलकर सब कुछ से जुड़ने का भाव है।

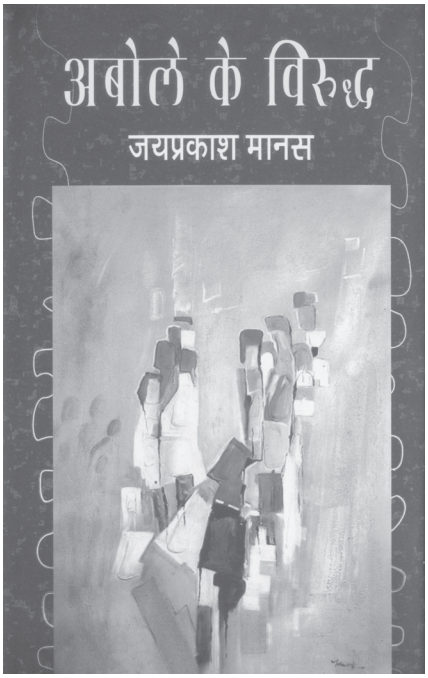

स्वभाव को महाभाव बनाने का प्रयास है। 'निहायत छोटा आदमी' भी अपने छोटे पांवों से बड़े-बड़े डग भरकर चेतना के विस्तार का संदेश देता है।

चाहे तूफान के बाद टूटे पेड़ पर बैठी अकेली चिड़िया हो, राख के नीचे दबी आग हो, लड़ाई के बाद बची मनुष्यता हो, भारी-भरकम चट्टान के नीचे बची चीटियां हों या सूखे के बाद भी रेत के गर्भ में बची थोड़ी-सी नमी हो, इन सभी में कवि भविष्य की शेष आशाओं को टटोलता है। ''कहने को तो/बची रह गई/पेड़ पर एक भयभीत चिड़िया भी/कोई गम नहीं/शिकवा भी नहीं/गीत सारे के सारे/बचे रह गए।'' यह संभावनाएं ही भविष्य का स्वरूप तय करेंगी, उसे आधार प्रदान करेंगी।

कविताएं जहां संभावनाओं की तलाश में अंतर-बाहर की यात्रा पर हैं, वहीं 'कुछ बचे या न बचे', 'डैने', 'लोग मिलते गए काफिला बढ़ता गया' जैसी कविता उनको समेटने और सहेजने का उपक्रम करती हैं, ताकि नवनिर्माण में उसका उपयोग हो सके।

संकीर्ण दृष्टिकोण और क्षुद्र मानसिकता का परिहार भी कुछ कविताओं का विषय बना है। 'सपना' में बकरी संकुचित मानस और उसके सपने संकुचित मानसिकता के प्रतीक हैं। एक बड़ी दुनिया, जिसमें सबके लिए जगह हो, के लिए एक बड़े सपने की जरूरत होती है। इस बकरी के सपने से बहुत बड़े सपने की। यहां व्यंग्य बहुत ही सुंदर बन पड़ा है। 'सफर में' कविता वर्तमान की सावधानी के साथ भविष्य के गर्भ में झांक आने की चेष्टा है।

मानवता के भय और संघर्ष को भी मानस की कविताओं में अभिव्यक्ति मिली है। 'खौफ' कविता में भयमुक्त अनबोलते

मानव में मृत्यु के असली स्वरूप को देखा जा सकता है तो 'खतरा' में मानव-मन के अंतर में घर कर चुके भय को ही सबसे बड़ा खतरा कहा गया है। कवि सर्वत्र भय का निदर्शन आत्मिक ही मानता है—

वहीं आदमी मरने लगता है
जब खौफ समा जाता है मन में

आदिवासी और शहरी समाज-संस्कृति की तुलना के माध्यम से भी कवि वैचारिक स्तर पर मनोस्थितियां, अंतर्द्वंद्व और जटिलता को उभारता है। बनवासी समाज सहजता एवं सादगी में भी अधिक संवेदनशील है, जबकि संस्कारवान शहरी सारी सुविधाओं के बावजूद कोलाहल, उधेड़बुन एवं विभ्रम की स्थिति में जीता है। 'बनवासी गमकता रहे' कविता के माध्यम से भी कवि आदिवासियों की मुखालफत करता है।

किसान समस्या कई कविताओं का केंद्रीय विषय है। अकाल, कर्ज एवं उपेक्षा का शिकार किसान अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत है। अकाल की विभीषिका का प्रभाव किसान किस तरह झेलता है, यह 'अकाल में गांव' कविता में क्रमशः गहराते अकाल के मार्मिक चित्र द्वारा प्रस्तुत हुआ है। ''इस साल फिर बिटिया की पठौनी/पुखरौती जमीन की/कागज-पतर नहीं लौटेगी/साहूकार की तिजोरी से/बूढ़ी मां की अस्थियां/त्रिवेणी नहीं देख पाएंगी''' 'कुदाल का गीत' कविता में श्रम के प्रतीक कुदाल की महत्ता प्रतिपादित करके श्रम के प्रति निष्ठा का प्रदर्शन किया गया है। कविता में लोक मान्यताओं का भी बड़ा सजीव शब्द चित्र खींचा गया है।

ग्रामीण परिवेश के साथ लोक-जीवन के अनेक चित्र संग्रह की कविताओं में सुंदरता से उकेरे गए हैं। अंचल की जीवन-रेखा नदी के माध्यम से कवि ने मानव और प्रकृति के भावनात्मक अंतर्संबंधों और उससे जुड़ी लोकप्रथाओं का भावपूर्ण एवं मार्मिक निरूपण किया है। 'लोक' कविता में अदृश्य रूप से समस्त अंतस्थल को अभिसिंचित करने वाली लोकधारा को नदी के प्रतीक द्वारा लोक संस्कृति की वाहक के रूप में देखा गया है। प्रकृति में घुले-मिले लोक-चित्र का कवि ने कोलाज रचा है, जो ग्राम-जीवन की ताजगी से भरपूर है—

चिड़ियों के झुरमुट से बोल उठना
बूढ़ी औरतों का झुलझुलहा स्नान

प्रभाती की लय में गांव
छानी-छानी मुस्कुराहट सूरजनारायण की
आंगन बुहारती बेटियों का उल्लास
बछिया को बीच-बीच पिलाकर गोरस
निथारना।

प्रेम-परक कई कविताएं स्वतंत्र रूप से संग्रह का अंग बनी हैं। प्रेम की सात्विकता, गुरुता, उदात्तता एवं शक्ति का आभास 'वजन', 'अभिसार', 'जिन्होंने नहीं लिखा कभी प्रेम-पत्र' आदि कविताओं में प्राप्त होता है। उदात्त प्रेम का भार कितना अधिक होता है, यह अन्य चीजों के साथ एक पलड़े में रखी पृथ्वी और दूसरे पलड़े में रखे रत्तीभर प्रेम को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है, ''डोलेगा नहीं कांटा/रत्ती भर/किसी ने रख दिया है चुपके से/रत्ती भर प्रेम दूसरे पलड़े में''। इसी के साथ प्रेम पर लगे सामाजिक बंधनों और प्रेम के अकारण दुश्मनों का भी जिक्र आता है।

जब अमरूद पक जाते हैं और उनकी मीठी महक से सारा घर-आंगन महक उठता है तो—

महिलाएं मनबोधी फल को
लाख न चाहते हुए भी
बाजार में छोड़ आती हैं
नोन, तेल, साबुन के लिए

समाज निर्माण में साहित्य की भूमिका अमूल्य है। साहित्य के इस सृजनात्मक कृत्य को लेकर भी कवि ने कई कविताओं में अपनी अवधारणा स्पष्ट की है। बदलते हुए समाज के साथ साहित्य की भूमिका में भी लगातार परिवर्तन हो रहा है। अब साहित्य कवि की अनुभूतियों और संवेदनाओं के साथ ही समाज की समेकित चेतना एवं उसकी आवश्यकताओं का भी वहन करता है। अब साहित्य की दृष्टि शाश्वत की बजाय सामयिक पर अधिक टिकती है। यह अलग बात है कि अधिक दूरदृष्टि के अभाव में साहित्य अल्पायु भी हो जाता है, किंतु निकट दृष्टि के कारण ही उसमें वर्तमान को प्रभावित करने की क्षमता भी बहुत बढ़ जाती है। नित नई तरह की संवेदनाओं का वहन करने के लिए साहित्य को भी नई शरीर संरचना और नए शब्दों की तलाश करनी पड़ती है। संग्रह की पहली कविता में ही कवि नई चेतना के लिए नई जमीन की खोज करता है। नए शब्दों के लिए कवि का यह संघर्ष साहित्य के विस्तार का सुखद संकेत है। 'कविता होगी तो' शीर्षक कविता में साहित्य की उपादेयता दर्शाते हुए उसे मानवता के लिए अनिवार्य घोषित किया गया है। लोक ही साहित्य को जीवन प्रदान करता है। लोक से कटा हुआ साहित्य स्वयं ही निर्जीव होकर अप्रांसगिक हो जाता है—

''ज्यादा दिन नहीं हुए/कविता में होता था गांव/और गांव में जलाशय/बरगद के नीचे पत्थर/शायद पत्थर और पानी की बदौलत/समूचा गांव प्रसन्न था/और कविता भी/चाहे आप किसी भी कोण से देखें।''

लेकिन 'कुछ झूठ बोलना सीखो कविता?' शीर्षक के अंतर्गत कविता को कुछ फरेब करने और चुप रहने की नसीहत व्यथित करने वाली है। सच बोलने वाला कवि मार तो दिया जाएगा, लेकिन खामखां क्यों? आखिर सच की भी तो कीमत कम नहीं। इसके बाद भी कविता में झूठ बोलकर 'वह' तो बच सकता है, लेकिन 'कवि' नहीं और कविता भी 'कवि' के साथ ही आना पसंद करेगी 'वह' के साथ तो नहीं।

संक्षेप में प्रस्तुत संग्रह अपने आपमें इतना कुछ समेटे है कि समय, समाज और व्यक्ति के लिए अपनी प्रासंगिकता सिद्ध कर सके। कवि ने चेतना के विस्तृत धरातल पर उतरकर हर संभव मनोभाव के अंकन का प्रयास किया है। कवि हर उस मौन को वाणी प्रदान करता है, जिसका अब कायम रहना ठीक नहीं है। कवि हर उस अबोले के विरुद्ध है, जिसे अब बोल ही देना चाहिए।

अबोले के विरुद्ध/जयप्रकाश मानस/शिल्पायन, 10295, लेन नं.-1, वेस्ट गोरखपार्क, दिल्ली-110032, मूल्य : ₹ 175

हिंदी विभाग, शोधछात्र, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, मो. 8009132499, ई-मेल : chaturvedipramod.bhu@gmail.com

सच को सच की तरह कहना कठिन है

सुभाष शर्मा

विश्वरंजन द्वारा संपादित पुस्तक 'सच जिंदा है अब तक' फैज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के लेखा-जोखा का एक आकस्मिक सर्वेक्षण-सा है। फैज के व्यक्तित्व पर नौ लेख, 21 मूल्यांकन संबंधी लेख, कुछ साक्षात्कार, कई पत्र, दर्जनों नज्में-ग़ज़लें-गीत आदि यहां मौजूद हैं, मगर अधिकतर लेख आकस्मिक, अति प्रशंसात्मक या चलताऊ हैं। संपादक का आमुख भी संक्षेप में है और अगंभीर अधिक है, जैसे ''कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो पढ़कर अपनी शायरी की दिशा बदलने वाले फैज एकमात्र ऐसे शायर हैं, जिनकी पहचान अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जीते-जी बनी।'' पहली बात तो यह है कि शायरी या कविता की दिशा बदलने के लिए कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो पढ़ना जरूरी नहीं। दूसरे, साहित्य की दिशा बदलने वाले कई कवि-कथाकार हिंदी-उर्दू में रहे हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का उदाहरण देना समीचीन है। वह जिंदगी के विभिन्न पड़ावों पर सनातनी, आर्यसमाजी, बुद्धवादी तथा मार्क्सवादी रहे। वह भी अपने जीते-जी काफी ख्याति पा चुके थे। फिर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जीते-जी मिली ख्याति का मुकाबला कौन कर सकता है समूचे एशिया में।

फिर उनके जीवन के तमाम यथार्थों को कई लेखकों ने बार-बार दुहराया है, जैसे वह फौज में सेवा करते थे; कि वह अफ्रीकी-एशियाई लेखक संघ के अध्यक्ष तथा 'लोटस' पत्रिका के संपादक थे; कि वह अंग्रेजी के प्रवक्ता थे; कि वह पाकिस्तान सरकार द्वारा कई बार जेल में ठूंस दिए गए थे; कि वह गांधी की हत्या होने पर दिल्ली आए थे; कि उनकी शादी एक अंग्रेज महिला एलिस से हुई थी और उनके दो पुत्रियां थीं; कि उन्होंने यूरोप, अमरीका और अरब देशों की यात्रा की थी; कि वह खुशमिजाज और मिलनसार थे; कि वह बड़े शायर होने के साथ-साथ बड़े इन्सान भी थे; कि वह जेल में शायरी करते थे; कि वह हिंदुस्तान-पाकिस्तान के बीच मेल-मिलाप चाहते थे, वगैरह-वगैरह।

मगर कुछ तथ्य उल्लेखनीय भी हैं। उदाहरण के तौर पर एक बार पाकिस्तान के शिक्षा विभाग के सचिव एस.एम. शरीफ ने फैज से लाहौर गवर्नमेंट कॉलेज में अंग्रेजी का प्रोफेसर बनने की पेशकश की, मगर फैज ने यह कहकर मना कर दिया कि वह एम.ए. की कक्षाओं को पढ़ाने के योग्य नहीं हैं। यह बड़ी बात है, खासकर एशिया में, जहां बिना योग्यता के उच्चतर अकादमिक पदों को हासिल करने के लिए मारामारी होती है। दूसरी काबिले-गौर बात यह है कि एक बार सीमा ने फैज से कहा कि आप वैसे तो इलिटिज्म के बहुत खिलाफ हैं, मगर आप तो खुद बहुत इलिट हैं। इस पर फैज ने कहा—'वो तो हम हैं।' (पृ. 43)। उर्दू वालों ने इसे सहज स्वीकार किया, मगर हिंदी साहित्य-संसार में ऐसी सहजता नहीं है। अज्ञेय को अभिजनवादी करार देकर साहित्यिक बहिष्कार, उपेक्षा एवं निंदा का शिकार होना पड़ा। तीसरी उल्लेखनीय बात है कि फैज को लेनिन शांति पुरस्कार मिलने के बाद पूरी दुनिया में उनका साहित्यिक कद बढ़ा और उनकी रचनाओं का कई विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ। तमाम देशों के भ्रमण के दौरान उनका स्वागत होता था, मगर सोवियत रूस में उनका सबसे ज्यादा गर्मजोशी से स्वागत होता था।

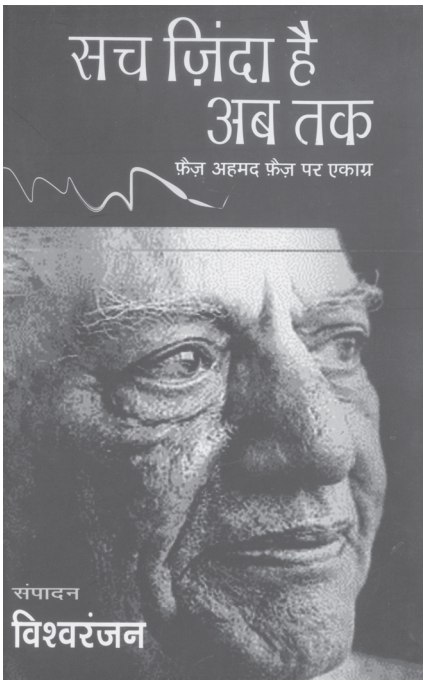

इस पुस्तक में कहीं-कहीं विरोधाभासी तथ्य मौजूद हैं जैसे निदा फाजली ने लिखा है, ''फैज अहमद फैज साहब उस युग के शायर हैं जिस युग में राइटर आम आदमी से दूर रहता था। वो गालिब नहीं थे, नागार्जुन नहीं थे। कहते हैं कि लेखक का जो वर्ग होता है, वो उसके लेखन से झलकता है। फैज अपर मिडिल क्लास के परिवार में जन्मे थे। उनकी हमदर्दियों की भाषा आम आदमी जैसी नहीं थी।'' (पृ. 90) आगे वह लिखते हैं, ''उनकी शायरी में वो गुस्सा भी नहीं दिखता है, जो नाजिम हिकमत में दिखता है, धूमिल के यहां मिलता है। उनकी शायरी में बढ़ते हुए एक ऐसी स्त्री का रूप सामने आता है, जो सोने-चांदी से लदी है, अच्छे कपड़े पहनी है, लेकिन खिड़की में बैठी हुई अपने झरोखे से आम आदमी को झांक रही है। उनकी शायरी अज्ञेय की तरह से ड्राइंग-रूम से ड्राइंग-रूम तक की यात्रा करती है।'' (पृ. 90) मगर इसी पुस्तक के पृ. 93 पर फैज की गरीबी का वर्णन उन्हीं के शब्दों में है, ''जब हमारे वालिद फौत हुए

तो पता चला कि घर में खाने तक को कुछ नहीं है, कई साल तक दर-ब-दर फिरे और फाकामस्ती की, उसमें भी लुत्फ आया।'' (पृ. 249 पर पुनः वर्णित) मगर संपादक ने यह फर्ज नहीं निभाया कि सचाई क्या है। वास्तव में, फैज के पिता (सुल्तान) अमीर थे, मगर पिता की मृत्यु के बाद फैज को गरीबी का सामना करना पड़ा, क्योंकि परिवार की परिस्थितियां लगातार प्रतिकूल होती चली गईं। परिवार पर काफी कर्ज था (पृ. 192)। जहां तक लेखक के वर्ग और उसकी सृजनशीलता का संबंध है, दोनों में अप्रत्यक्ष सबंध हैं और साहित्य तथा समाज के बीच कई मध्यस्थीय संबंध होते हैं—जैसे लेखक की शिक्षा, उसकी विचारधारा, आवासीय एवं रोजगारपरक गतिशीलता, शहरी या ग्रामीण परिवेश, संगति, नैतिकता के प्रति रुझान, समुदाय का खुलापन या बंद होना आदि। यहां यह पूरी शिद्दत से कहा जा सकता है कि फैज की शायरी सोने-चांदी से लदी स्त्री नहीं है और न ड्राइंग-रूम से ड्राइंग-रूम की यात्रा है। रशीद अहमद सिद्दीकी के अनुसार, 'फैज आरंभ से अंत तक साम्यवादी हैं' (पृ. 273)। दरअसल फैज के कई शेर शोषण के विरुद्ध आग उगलते हैं :

'जब कभी बिकता है बाजार में मजदूर का गोश्त
शहराहों से गरीबों का लहू बहता है।
आग-सी सीने में रह-रह के उबलती है न पूछ
अपने दिल पर मुझे काबू ही नहीं रहता है॥'

'यह दाग-दाग उजाला ये शबगजीदा सहर
वो इंतिजार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं।'

'जब तख्त गिराए जाएंगे
जब ताज उछाले जाएंगे'

'उट्ठेगा अनलहक का नारा, जो मैं भी हूं और तुम भी हो।
और राज करेगी खल्के-खुदा, जो मैं भी हूं और तुम भी हो।'

इस पुस्तक में दो लेख मजेदार हैं। एक है 'फैज को कैसे न पढ़ें' (गोपीचंद नारंग) तथा दूसरा है 'फैज को क्यों और कैसे पढ़ें' (प्रणय कृष्ण)। गोपीचंद नारंग की सलाह है कि प्रसिद्धि के अपने खतरे भी हैं—'यारों ने कसीदों के पुलिंदे जमा कर रखे हैं, इसलिए कि कसीदे के लिए रचना के पाठ से गुजरने की आवश्यकता नहीं। कसीदा कुछ तो अपेक्षाओं के कारण कहा जाता है, कुछ स्वार्थवश और कुछ वर्णन की क्षमता के प्रदर्शन के कारण। इस प्रकार देखें तो फैज हमारी सहानुभूति के मुख्य पात्र हैं।' (पृ. 279)। नारंग के अनुसार साहित्य और कला से जो सौंदर्यात्मक प्रभाव पैदा होता है, वही फैज की शायरी की कुंजी है। उनके अनुसार कविता में जो कुछ कहा जाता है, उसके साथ जो कुछ नहीं कहा जाता (पंक्तियों के बीच, शब्दों के बीच), वह भी महत्त्वपूर्ण होता है अर्थात् 'कही' और 'अनकही' दोनों प्रक्रियाएं सक्रिय होती हैं सौंदर्यशास्त्र में। उनके अनुसार फैज की विचारधारा राष्ट्रवादी और सौंदर्यबोध पूर्वदेशीय (प्राच्य) है (भारतीय-ईरानी सांस्कृतिक प्रभाव की देन)। नारंग मानते हैं कि फैज की शायरी के अंश अधिक सफल हैं, जहां सौंदर्यबोध का दबाव अधिक है, क्योंकि वहां अनुभूति उभरकर आई है। उनका आशय यह है कि जहां सौंदर्यात्मक 'अनुपस्थिति' या 'खामोशी' दोनों बोलती हैं, या जहां पंक्तियों के बीच की खाली जगह प्रकाशित हो उठी है। वह मानते हैं कि सौंदर्यबोध को काव्य-सृजन में स्वीकार करना ही पड़ेगा। जाहिर है कि ऐसे मूल्यांकन में नारंग की 'साहित्य साहित्य के लिए' वाली दृष्टि हावी है।

दूसरी ओर प्रणय कृष्ण मानते हैं कि फैज की कविता जन-समुदाय की भावनाओं और अनुभवों का आवाहन करती है तथा जनता के साथ एक ऐसा संवाद है, जो उसकी चेतना के दबा दिए गए हिस्सों से रूबरू है। प्रणय कृष्ण सावधानीपूर्वक कहते हैं, ''फैज इन्कलाब के प्रचारक नहीं हैं। वे तो अवाम में उसके प्रति ललक, हासिल न हो पाने की मायूसी और अंतहीन उम्मीद के शायर हैं।' (पृ. 294) आगे उनका यह भी मानना है कि रूमानियत का काव्यशास्त्र फैज को समझने के लिए अपर्याप्त है, क्योंकि फैज के लिए माशूक कभी देश है तो कभी क्रांति। उनकी कविता क्लासिकीय, रोमांटिक या आधुनिक के खोंचे में अंट नहीं पाती। उनके अनुसार नारंग को भी फैज की कविता की बहुस्तरीयता के बीच में एक स्तर उपनिवेश-विरोधी राजनीति का मानना पड़ता है, यूं वह उनकी कविता के अर्थ को नजरअंदाज करने के लिए सौंदर्यशास्त्र को मार्क्सवाद के बरक्स तथा अर्थ को विचारधारा के बरक्स पेश करते हैं। उन्होंने फैज द्वारा बी.बी.सी. को दिए गए एक साक्षात्कार के अंश को उद्धृत किया है, ''मैं मार्क्सिस्ट हूं और ईश्वर को नहीं मानता।'' (पृ. 301)

फिर फैज ने बार-बार कहा था कि पाकिस्तान बुनियादपरस्ती की ओर बढ़ रहा है। जाहिर है, फैज की तमाम रचनाएं क्रांतिकारी आह्वान से लैस हैं, सो नारंग की 'साहित्य साहित्य के लिए' वाली दृष्टि फैज का सही मूल्यांकन नहीं कर सकती। एक अन्य लेख 'फैज की शायरी में परंपरा और आधुनिकता' में गोपीचंद नारंग कहते हैं कि 'अपनी वामपंथी प्रवृत्तियों के बावजूद फैज सही मायनों में विद्रोही शायर नहीं हैं।' (पृ. 353) बल्कि वह 'मूलतः गीतात्मक शायर हैं' (पृ. 354) आगे वह कहते हैं, 'फैज नितांत निजी विषयों के प्रति गहराई से जुड़ा है जैसे वह समाजवाद और राष्ट्रयता के विषयों के साथ जुड़ा है। दोनों प्रवृत्तियां उसे अलग-अलग दिशाओं की ओर खींचती हैं।—एक प्रेम का निमंत्रण देता है, दूसरा कर्म के लिए प्रेरित करता है।' (पृ. 357-58) इस लेख में नारंग संतुलित हैं और मानते हैं कि फैज अपनी शायरी में मनुष्यों के दुःख-दर्द को व्यक्त करते हैं, मगर सौंदर्यबोध और कलात्मक मूल्यों की हर हालत में रक्षा भी करते हैं। वह अंततः स्वीकार करते हैं कि फैज और उनके साथी समकालीन शायरों ने उर्दू शायरी को 'क्रांतिधर्मी' बनाया है और उसके राजनैतिक और सामाजिक दोनों संदर्भों में आमूलचूल परिवर्तन भी किए हैं। फिराक गोरखुपरी ने ठीक ही कहा है, ''फैज ने शायरी का नया स्कूल कायम किया है। उन्होंने जिस गहरी समझ, भावना की निश्छलता और कला-कौशल से प्रेमानुभूतियों को अन्यान्य सामाजिक समस्याओं के संग मिलाकर पेश किया, वह उर्दू के प्रेम-काव्य में एक बिल्कुल नई चीज थी।' (पृ. 272) परमानंद श्रीवास्तव के अनुसार 'सरे सुखन हमारे' फैज की सृजनशीलता का ऐसा साक्ष्य है, जिसमें प्रेम और क्रांति एक-दूसरे का पर्याय हैं...फैज में जैसे समय की असंख्य गूंजें हैं। स्मृति और

विस्मृति का द्वंद्व। सुख-दुःख का द्वंद्व।'' (पृ. 289)।

धनंजय वर्मा ने फैज को 'उम्मीद-ए-सहर' का शायर कहा, मगर फैज उस अर्थ में दार्शनिक कवि नहीं है, जिस अर्थ में मीर, गालिब या इकबाल हैं। फैज के लिए फलसफा जिंदगी से तय होता है न कि जिंदगी फलसफे से। वह फैज को उद्धृत करते हैं, 'अच्छी शायरी वो है, जो कला के निकष पर ही नहीं, जिंदगी की कसौटी पर भी खरी उतरे।' (पृ. 97) शायरी के बारे में उन्होंने तीन मशविरे दिए थे : पहला, जो कुछ लिखो—दिल से लिखो, किसी के कहने की वजह से मत लिखो। दूसरा, बाहर के तीन हलकों पर नजर हो : जात (कौम) का हलका, निजी हलका, निजी जिंदगी का दूसरे लोगों/कौम पर क्या असर हुआ। तीसरे, माजी, हाल और मुस्तकबिल पर नजर हो—माजी से क्या रिश्ता था, हाल में हम क्या कर रहे हैं और मुस्तकबिल में कौन से रास्ते पर चलना है। इस प्रकार फैज ने अनुभूति, अंदर और बाहर की पारस्परिक अंतःक्रिया तथा अतीत, वर्तमान एवं भविष्य की समकालिक चेतना पर जोर दिया है। धनंजय वर्मा का मानना है कि समय के शिकंजों को तोड़ने का जज्बा भरने का काम शायर का है और फैज ने यह बखूबी किया। उन्होंने दो विरोधी-सी लगने वाली संवेदनाओं और प्रवृत्तियों का संश्लेषण किया। उनकी रचनाओं में निराशा नहीं है, बल्कि विपरीत परिस्थितियों का मुकाबला करती हुई वो अहसासे-उम्मीद है—उनमें भविष्य और मानव गरिमा के प्रति आशावाद शामिल है।

जहां सूफी शायरी में सहर रहस्यवादी तादात्म्य का प्रतीक है, वहीं फैज में सहर क्रांति के भाव से उद्दीप्त है। उनकी रचनाओं में सहर की केंद्रीयता है जो उजाले, गतिशीलता, सक्रियता और नई आस्था का प्रतीक है। उनकी कविताओं का उद्देश्य मनुष्य की बेहतरी, हक और खुद्दारी के लिए संघर्ष करना है। वह उर्दू के पुराने शायरों को याद करते हैं, और पहले-सी मुहब्बत न मांगने की बातें करते हुए स्पष्ट कहते हैं—'और भी दुःख हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा/राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा।' इसीलिए तो जोश मलीहाबादी ने कहा था, ''उर्दू अदब के एक मल्लाह को अपने पीछे छोड़े जा रहा हूं और उस मल्लाह का नाम है—फैज।'' (पृ. 271) फैज और फिराक की तुलना करते हुए परमानंद श्रीवास्तव सही कहते हैं—'फैज के यहां बगदाद-इराक हैं, तो फिराक के वहां वृंदावन और सीता की रसोई भी। ऐंद्रियता, रूमानियत दोनों के यहां फैज तिलिस्म तोड़ते हैं, फिराक तिलिस्म रचते हैं। दोनों एक साथ वैश्विक हैं, स्थानीय भी।' (पृ. 292)।

इस पुस्तक में संकलित अधिकांश लेख बिना गंभीरता के और बिना तैयारी के लिखे गए हैं और 392 पृष्ठों की इस पुस्तक में कम-से-कम एक-तिहाई पृष्ठ खानापूरी के तौर पर हैं। किसी संपादित पुस्तक का पहला दायित्व है कि रचनाएं ठोंक-बजाकर, चुन-चुनकर शामिल की जाएं और विभिन्न आयामों/फलकों/दृष्टियों का समावेश करते हुए एक मुकम्मल संपादकीय लिखा जाए, परंतु इस पुस्तक का संपादन फैज जन्मशती के अवसर पर जल्दबाजी में किया गया प्रतीत होता है। शायद इसीलिए लेखकों का परिचय तक नहीं दिया गया है। फिर भी कुछ लेख (जिनका जिक्र ऊपर किया गया है) तथा 78 पृष्ठों में फैली फैज की मौलिक नज्में/ग़ज़लें/गीत पढ़ने में पाठक का मन लग सकता है। पुस्तक का आवरण अच्छा है, मगर इसकी कीमत छः सौ रुपए होने के कारण अधिकतर पाठकों की निजी खरीद में यह पुस्तक नहीं शामिल हो सकेगी।

सच जिंदा है अब तक/विश्वरंजन/शिल्पायन/10295, लेन नं. 1, गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/ मूल्य : ₹ 600

डी-71, निवेदिता कुंज, आर.के. पुरम, सेक्टर-10, नई दिल्ली-110022, दूरभाष : 011-26162591

अपील

हिंदी की साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता का लगभग 150 वर्ष का स्वर्णिम इतिहास है, जिसमें सरस्वती, माधुरी, हंस, चांद तथा कहानी जैसी अनेक पत्रिकाओं ने हिंदी की रचनाशीलता को समृद्ध किया है। लघु पत्रिकाओं के माध्यम से यह क्रम आज भी चल रहा है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक तथा अनेक लघु पत्रिकाओं के प्रवेशांकों का एक संग्रहालय स्थापित किया गया है। संग्रहालय में पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के कम ही अंक उपलब्ध हो पाएं हैं। हम सभी लेखकों, साहित्यप्रेमियों से अपील करते हैं कि पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक संग्रहालय को उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें ताकि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य के विविध आयामों को शोधार्थियों के लिए उपलब्ध कराया जा सके।

संग्रहालय में रचनाओं की हस्तलिखित पांडुलिपियों, लेखकों का आपसी पत्र व्यवहार, लेखकों-पाठकों के बीच पत्र व्यवहार तथा चित्र आदि को भी संग्रहीत किया जा रहा है। सभी लेखकों, सुधी पाठकों से अपील है कि इस सामग्री को हमें उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें।

विभूति नारायण राय
कुलपति

मार्कंडेय : व्यक्ति और कथाकार

मोतीलाल

मार्कंडेय—नई कहानी आंदोलन के एक सशक्त कथाकार हैं। वे आजादी के बाद के गांव, किसान, मजदूरों और बदलते भूमि-संबंधों के एक सजग चितेरे हैं। किसान-मजदूरों के पक्षधर होने के कारण वे प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। इसे हिंदी साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि उनके जीते-जी उनके कथा-साहित्य के महत्त्वपूर्ण अवदान का मूल्यांकन नहीं हो पाया। विगत वर्ष उनका देहावसान भी हो गया। हाल ही में 'मार्कंडेय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का समग्र मूल्यांकन' करती पुस्तक 'मार्कंडेय : परंपरा और विकास' प्रकाशित हुई है। इसके संपादक हैं—उभरते आलोचक प्रकाश त्रिपाठी। इस पुस्तक में संगृहीत सामग्री को पांच भागों में विभक्त किया गया है—स्मृति : शेष, कहानीकार, उपन्यासकार, आलोचक और बीच बहस में। इसके अतिरिक्त 'कथा' के चौदहों अंकों की संक्षिप्त समीक्षा भी है, जो बहुत ही उपयोगी है।

'स्मृति-शेष' में कुल तेरह संस्मरण हैं जिसमें अमरकांत, कमलेश्वर, रवींद्र कालिया और शिवकुमार मिश्र जैसे मार्कंडेयजी के निकटस्थों के संस्मरण है। इन्हें पढ़कर कोई भी उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं का साक्षात् दर्शन कर सकता है। अमरकांत ने उन्हें 'बेहद कल्पनाशील' कथाकार के रूप में याद किया है। ये उन्हें एक 'सुसंस्कृत रोमांटिक नायक' बताते हैं। सिर्फ इतना ही नहीं, इनकी व्यक्तित्व विश्लेषण की तेज नजरों से मार्कंडेय का महाराजत्व भी छुप नहीं पाया है, ''पुराने जमाने में राजा-महाराजा रथ पर चढ़कर चलते थे, इसलिए वह दरवाजे के सामने रिक्शा बुलाकर सवारी करता है।'' (पृ. 17) अमरकांत की दृष्टि में मार्कंडेय—'जबरदस्त योजना विहारी', 'बेहद आकर्षक' और 'स्वादिष्ट भोजन और किताबों की भूख' वाले जनपक्षधर कहानीकार हैं।

कमलेश्वर उन्हें 'पौराणिक काल की बिंब नगरी' (इलाहाबाद) के 'वाल्मीकि' के रूप में याद करते हैं। इसी भाग में शिवकुमार मिश्र ने 'आजादी के बाद के गांवों के बदलते परिदृश्य के विशद अनुभव' को उनकी 'सबसे बड़ी पूंजी' बताया है। ये उन्हें 'व्यक्ति नहीं, संस्था थे' कहते हैं। चित्रा मुद्गल उनके 'कुछ अनकहा निकाल लाने की क्षमता' पर फिदा हैं, जबकि रवीन्द्र कालिया उनके रिक्शासन को 'तख्ते ताऊस' बताते हैं। भारत भारद्वाज ने बहुत नपे-तुले शब्दों में उनका रेखाचित्र खींचा है, ''दुग्ध-धवल रूप-रंग, बाल श्वेत, चेहरे पर चमक और दीप्ति विराजमान थी'' (पृ. 69)। निकटस्थ मित्र और 'तख्ता गुरु' को याद कराते ये संस्मरण हमें इलाहाबाद की साहित्यिक हलचलों से भी परिचित कराते हैं।

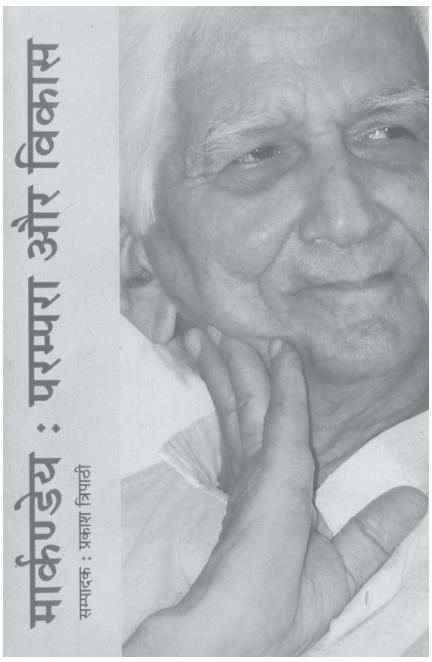

पुस्तक का दूसरा भाग 'कहानीकार' मार्कंडेय पर केंद्रित है। मार्कंडेय प्रमुखतः कहानीकार के रूप में ही प्रसिद्ध रहे हैं। इस भाग में उनकी कहानियों पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है। ऐसे लेख, पुस्तक-समीक्षाओं की संख्या पंद्रह है, जिसमें समय-समय पर प्रकाशित उनकी पुस्तकों की समीक्षाएं भी हैं। इनकी संख्या सात है। इनमें खगेंद्र ठाकुर, सुरेंद्र चौधरी और विद्याधर शुक्ल के लेख अपनी ईमानदार कलम से निकलने का परिचय देते हैं। चंद्रभूषण तिवारी और बलभद्रजी का लेख थोड़ा 'वाह-वाह' की ओर झुक गया है। सुरेंद्र चौधरी का निष्कर्ष है, ''मार्कंडेय ने विचारों और राजनीतिक बहसों की जटिलता से कहानी को बचाया है, मगर इससे उसकी राजनीति पर पर्दादारी इष्ट नहीं है। अक्सर गहरी राजनीतिक कहानियों में ही राजनीति गायब हो गई मालूम पड़ती है।'' (पृ. 91) दूसरी तरफ खगेंद्र ठाकुर 'मानवीय संवेदना' से परिपूर्ण ग्रामीण जीवन के पात्रों के चरित्र-चित्रण के कारण ही मार्कंडेय को महत्त्वपूर्ण कथाकार मानते हैं, ''गांव में बसने वाले और खेती पर निर्भर करने वाले मेहनतकशों का जीवन ही सबसे बड़े सामाजिक यथार्थ का प्रतिनिधित्व करता है।'' (पृ. 95) विद्याधर ने मार्कंडेय की 'नवैयत' की वास्तविक पहचान करते हुए लिखा है, ''मार्कंडेय की गंवई जमीन से उपजी बीसों कहानियां काबिले गौर हैं क्योंकि इन कहानियों में छठवें-सातवें दशक के ग्रामीण समाज, विशेषकर निचले तबके के खेतिहर मजदूरों का त्रासद इतिहास दर्ज है।'' (पृ. 138) इनकी दृष्टि में मार्कंडेय 'समय और संदर्भ के प्रति सजग' कथाकार हैं।

नेमिचंद्र जैन मार्कंडेय के कथा-साहित्य को 'कहीं ऊपर से दूर से' देखा हुआ मानते हैं। अशरफ बेग ने इसमें हर जगह 'एक दबी हुई चिंगारी' देखी है। चंद्रभूषण तिवारी को इसमें, 'ग्रामीण जीवन का निम्नवर्गीय प्रतिनिधित्व' दिखाई देता है। संक्षेप में, ये समीक्षाएं हमें मार्कंडेय की कहानियों को देखने के विभिन्न दृष्टिकोण प्रदान करती हैं।

पुस्तक का तीसरा भाग मार्कंडेय के उपन्यासकार रूप से हमें रूबरू कराता है। ले-दे के मार्कंडेय के खाते में दो ही उपन्यास हैं—'अग्निबीज' और 'सेमल के फूल'। इसमें 'अग्नि बीज' अपने समय में चर्चित रहा है। इस पर कुल तीन लेख हैं, जिनके लेखक हैं—आनंद प्रकाश, विद्याधर शुक्ल और परमानंद श्रीवास्तव। आनंदप्रकाश और विद्याधर ने इन्हें एक 'प्रगतिशील उपन्यासकार' के रूप में पहचाना है, जबकि परमानंद श्रीवास्तव ने इन्हें प्रेमचंद की परंपरा का कथाकार माना है। विद्याधर का निष्कर्ष ध्यान खींचता है, ''प्रेमचंद की परवर्ती परंपरा की अग्रिम कड़ी के रूप में 'अग्निबीज' आजादी के बाद के गांवों में अंकुरित होती जचेतना के विकास को उद्घाटित करने वाला सशक्त उपन्यास है।'' (पृ. 235)

मार्कंडेय केवल कथाकार ही नहीं, अपने कथा-लेखन के आरंभ में कहानी-आलोचक भी रहे हैं। उन दिनों वे 'कल्पना' में धारावाहिक रूप से 'चक्रधर' नाम से कहानियों पर टीका-टिप्पणी भी कर रहे थे, जो उस समय बहुत चर्चित रहा। उन्होंने 'नई कहानियां' के प्रारंभिक दस-पंद्रह अंकों में 'जो लिखा जा रहा है' स्तंभ में लिखा, जिसमें यशपाल-अज्ञेय-उग्र आदि दिग्गज शामिल रहे हैं। ये सब लेख उनकी आलोचना पुस्तक 'कहानी की बात' में संकलित हैं। इस पुस्तक में 'कहानी की बात' पर तीन लेख हैं, जिसमें मधुरेश, प्रभाकर सिंह और डॉ. क्षमाशंकर पांडेय ने अपने विचार रखे हैं। डॉ. पांडेय लिखते हैं—वे कहानी में मनुष्य को समस्त जटिलताओं के साथ देखे-परखे जाने के पक्षधर थे। (पृ. 265)।

'मार्कंडेय : परंपरा और विकास' के पांचवें भाग—बीच बहस में—कुल चार साक्षात्कार हैं। ये साक्षात्कार बहुत पहले के हैं, लेकिन नई कहानी आंदोलन और उस काल की कहानी के उत्थान-पतन का मार्कंडेय सजीव बयान-सा करते हैं। वे कहते हैं, ''नई कहानी

की मुख्य देन यही है कि उसने कहानी को फिर से जीवन संदर्भों के यथार्थ से जोड़ा।'' (पृ. 269) उनकी प्रबल धारणा थी कि—साहित्य क्रांति का अनुगामी है, ''अन्याय और दुःख की स्थितियों को चित्रित करना ही शायद साहित्य का सबसे बड़ा मर्म है। (पृ. 296) वे अपने को एक प्रतिबद्ध लेखक मानते हुए कहते हैं—हमारी प्रतिबद्धता अपने देश के सामाजिक संदर्भों के प्रति है। (पृ. 303)

मार्कंडेय एक कुशल संपादक भी रहे हैं। इनके द्वारा संपादित 'माया' (1965) के दो बहुचर्चित विशेषांक इसके सबूत हैं। 'माया' के कहानी विशेषांक में नामवर सिंह का अंतिम कहानी लेख—'नई कहानी : एक और शुरुआत' भी था। 'कथा' के वे सिद्धहस्त संपादक थे, परंतु अफसोस है कि इसके कुल चौदह अंक ही प्रकाशित हो सके। प्रकाश त्रिपाठी संपादित इस पुस्तक—'मार्कंडेय'—परंपरा और विकास' के अंतिम भाग 'संपादक' में मार्कंडेय की संपादन कला पर कोई लेख या टिप्पणी तो नहीं है, परंतु 'कथा' के चौदह अंकों की ज्ञानवर्धक सूचनात्मक समीक्षा इस कमी को पूरा करती है, जो शोधार्थियों के लिए बड़े महत्त्व की है। इसके लेखक हैं—हितेश कुमार सिंह। कुल मिलाकर संपादक प्रकाशक त्रिपाठी ने मार्कंडेय के व्यक्ति और कथाकार रूप को समग्र रूप से उजागर करने का सफल प्रयास किया है।

मार्कंडेय : परंपरा और विकास/संपादक : प्रकाश त्रिपाठी/वचन पब्लिकेशंस/52, तुलारामबाग, इलाहाबाद-211006/मूल्य : ₹ 475

द्वारा बाबूराम मौर्य, 473/257-बी/1, बाघंबरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद-211006, मो. 09451940317

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री—यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

काव्यालोचन का मर्म

दीपकप्रकाश त्यागी

एक ऐसे समय में जब आलोचना का जनतंत्र प्रदूषित हो रहा है, आलोचक स्वयं के सत्य को महत्त्वपूर्ण एवं दूसरे के सत्य को दो कौड़ी का सिद्ध करने में लगे हुए हैं, तब विजेंद्रनारायण सिंह का लेख 'कामचलाऊ सत्य और समीक्षा की सीमाएं' महत्त्वपूर्ण लगने लगता है। यह लेख इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें एक ओर श्रेष्ठ आलोचकों की कसौटी के रूप में कामचलाऊ सत्य की अवधारणा पर गंभीर विमर्श है, तो वहीं आलोचक की सीमा—फतवेबाजी आदि पर भी विजेंद्रजी ने मुक्तभाव से विचार किया है। यह कथन महत्त्वपूर्ण है—'हमें कामचलाऊ सत्य से ही संतुष्ट होना पड़ता है। जिस कला का कामचलाऊ सत्य जितना कालजयी होता है, वह कला उतनी महान होती है।' विजेंद्रजी इस कामचलाऊ सत्य की व्यापकता की कसौटी के लिए तीन आयाम मानते हैं—गहराई, विस्तार और काल। इसमें संदेह नहीं कि जहां ये तीनों तत्व होते हैं, वहां क्लैसिक साहित्य का सृजन होता है। बाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, शेक्सपियर, गोस्वामी तुलसीदास ऐसे ही कवि हैं और उनकी रचनाएं कालजयी। यह बिल्कुल सही है कि ये ही तीन तत्व किसी भी कृति को कालजीवी बना देते हैं और इसमें भी काल का आयाम ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। विजेंद्रजी का कथन है, 'काल का शाश्वत आयाम ही साहित्य या कला को वह असमाप्य पक्ष देता है, जिसकी व्याख्या प्रत्येक युग में अपने-अपने ढंग से करता है। इसलिए अच्छी-से-अच्छी आलोचना भी कभी पूर्ण नहीं हो सकती। यह उसकी अपरिहार्य सीमा है।' इससे लेखक एवं साहित्य दोनों का भला होगा। विजेंद्रजी इसी क्रम में आलोचकों की तीन कोटि मानते हैं—श्रेष्ठ आलोचक वह होता है, जो किसी युग विशेष में कामचलाऊ सत्य के अनुरूप अपनी आलोचना के सिद्धांतों को गढ़ता है। आनंदवर्द्धन और अभिनव गुप्त इसलिए श्रेष्ठ हैं, भामह, वामन, महिम भट्ट मध्यम कोटि के हैं। मध्यम कोटि का आलोचक वह होता है, जो श्रेष्ठ और मध्यम कोटि के आलोचकों के कामचलाऊ सत्य को ही हड़पकर काम चलाता है। इलियट एक वर्ग अधम कोटि के आलोचकों का मानते हैं, जिन्हें वे तोता रटंत कहते हैं। आज के आलोचकों में एक ऐसा वर्ग भी है, जिसके लिए आलोचना जनसंपर्क का माध्यम बन गई है। विजेंद्रजी को ऐसे आलोचकों को भी पहचानना चाहिए था।

अगले दो लेख काव्य-सृजन की प्रक्रिया को उद्घाटित करते हैं। आज दलित विमर्श एवं स्त्री विमर्श के शोर में यह कहा जाने लगा है कि जो भोक्ता है, वही अच्छा रचयिता हो सकता है। यहां विजेंद्रजी पूरी निर्भय दृष्टि से यह कहते हैं—काव्य निजी वेदना से नहीं रचा जाता। कुछ विमर्शकारों को यह कथन अच्छा नहीं लगेगा, किंतु यह सच्चाई है, ''क्षुब्ध मन में सृजन करने का सामर्थ्य नहीं होता है। सृजन के लिए भोगने वाले प्राणी को अपने क्षोभ से बाहर आना होगा।'' आचार्य अभिनव गुप्त, मुक्तिबोध, इलियट ने इस पर विस्तार से विचार किया है। अभिनव गुप्त का विचार है कि क्रौंचवध के प्रसंग में जो शोक श्लोक में परिणत हुआ, मुनि का व्यक्तिगत शोक नहीं। इलियट का कथन बहुत मार्मिक है कि 'भोगने वाले प्राणी और सृजन करनेवाले कलाकार में एक अंतर होता है और यह अंतर जितना बड़ा होता है, कलाकार भी उतना ही महान होता है।' मुक्तिबोध ने भी कला के तीन क्षणों की चर्चा के क्रम में यह स्वीकार किया है कि 'दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपनी कसकती-दुखती हुई भूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना, मानो यह फैंटेसी अपनी आंखों के सामने खड़ी हो।'

यह फैंटेसी ही भारतीय काव्यशास्त्र का विभाव है और इस विभाव से ही सृजन-प्रक्रिया की यात्रा शुरू होती है। विभाव कवि की निजी अनुभूति का सामाजिक प्रतिरूप है। विजेंद्रजी इसी विभाव को सृजन की प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण आयाम मानते हैं अर्थात् काव्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, उससे पलायन है। सरोज स्मृति में भी निराला निजी को सामूहिक बना देते हैं। विजेंद्रजी का विचार है कि 'छंद मिल जाना ही काव्य की सर्जना नहीं है। यह तो केवल प्रस्थान-बिंदु है। काव्य की वास्तविक यात्रा तो विभाव की खोज से शुरू होती है। विभाव है निजी अनुभूति का सामाजिक आधार।' मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो यह सामाजिकता ही कला के दूसरे क्षण की पूर्णता है। कला का तीसरा क्षण है—शब्दबद्ध करने का क्षण। विजेंद्रजी ने

इस क्षण की व्याख्या के लिए भट्टतौत को ठीक ही उद्धृत किया है। भट्टतौत का कथन है कि 'जब किसी को केवल दृष्टि है, तब तक वह ऋषिमात्र है, लेकिन वह कवि तभी हो पाता है जब वह उस दर्शन को सुंदर भाषा में व्यक्त करे। लोक में तो दर्शन के साथ वर्णन का भी सामर्थ्य हो, उसी को कवि कहते हैं।' यह वर्णनात्मकता ही साहित्य की सृजन-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण आधार है और यह तभी संभव है जब भोक्ता एवं सर्जक में पार्थक्य हो और यह पार्थक्य जितना अधिक होगा, कला भी उतनी ही महान होगी। विजेंद्रजी का यह कथन तमाम विमर्शकारों को पचेगा नहीं, फिर भी सृजन की भूमि का एक महत्त्वपूर्ण यथार्थ है, इसे कुछ हद तक स्वीकार करना ही होगा। विजेंद्रजी लिखते हैं कि 'निजी जीवन का दुःख सामाजिक जीवन की किसी दरार से ही उत्पन्न होता है। अतः निजी दुःख को सर्जन की भूमिका में पहुंचने के लिए सामाजिक जीवन की इस दरार का साक्षात्कार करना होगा। इसी साक्षात्कार के क्रम में रचयिता व्यवस्था का आलोचक बनता है, विद्रोही बनता है और उसकी कविता जीवन की आलोचना बन जाती है।' इसीलिए कला में निजी अनुभूति का महत्त्व काव्य है। कला तब तक कला नहीं बन सकती, जब तक कि वह सामाजिक जीवन की किसी अनुभूति या मानवीय नियति के किसी सत्य को अभिव्यंजित न करती हो। इसी अर्थ में विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है।

'मिथक और काव्य-सृजन-प्रक्रिया' में विजेंद्रजी ने मिथक के विश्लेषण के बहाने काव्य की सृजन-प्रक्रिया पर विचार किया है तो 'व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप' विषयक लेख में समीक्षा के प्रतिमान पर विजेंद्रजी ने विचार किया है। आज का समय साहित्य-सृजन के लिए बीहड़ है तो आलोचना के लिए ज्यादा खतरनाक भी, क्योंकि आलोचक एवं आलोचना एक ऐसे दौर में पहुंच गई है, जहां दोनों ही अविश्वसनीय हो गए हैं। विजेंद्रजी ने अपने इस लेख में अच्छे लेखक के लिए कुछ कसौटी तय की है, जिसे अच्छी आलोचना के लिए जरूरी मान सकते हैं—

1. प्रत्येक अच्छी और मौलिक कविता अपने आपमें एक नया संसार है और उसकी परीक्षा के लिए नूतन काव्यशास्त्र की खोज करनी पड़ती है। 2. सच्चे समीक्षक का हृदय कवि-हृदय का शेषांश होता है। कविता के समीक्षक को और कुछ भी न जानने से पहले अच्छा पाठक होने की कला में वाकिफ होना है। 3. सच्चा समीक्षक होना और बात है, वादी और प्रतिवादी होना और। 4. समीक्षक को कवि-दृष्टि-संपन्न होने के साथ-साथ प्रतिभा संपन्न भी होना चाहिए। 5. समीक्षक मूल्यों की तलाश और प्रेषणीयता की व्याख्या करता है। प्रेषण के लिए अनुभूति चाहिए, लेकिन अनुभूति भी प्रेषण के समय कट-छंटकर नया रूप ग्रहण करती है। मुक्तिबोध की भाषा में यही कला का तीसरा क्षण है। 6. संप्रेषण और अर्थबोध कदाचित एक ही चीज नहीं है। अधिकांश अच्छी कविता अर्थबोध के लिए कई बार पारायण चाहती है। जो लोग यह समझते हैं कि कविता एक बार में ही समग्र अर्थलोक को खोल देती है, वे कविता की गरिमा एवं महिमा से परिचित नहीं हैं। 7. कविताओं में महत्त्व वार्ता का नहीं, वक्रोक्ति का है। वार्ता का अर्थ वही होता है, जो ऊपर से दीखता है, किंतु वक्रोक्ति तो अभिव्यंजना है। वार्ता कविता को सपाट बना देती है, वक्रोक्ति उसे विच्छित्ति प्रदान करती है। 8. कविता में रूप और वस्तु समानान्तर रूप से उभरते हैं। वस्तुतः रूप की खोज वस्तु की खोज से संबद्ध है। 9. कविता और कुछ नहीं, मनुष्य की सबसे पूर्णभाषा है और इसी में वह सत्य के सबसे समीप पहुंचती है। 10. कॉलरिज कविता को सबसे अच्छी भाषा ही मानते हैं, विजेंद्रजी की मान्यता है कि जब हम भाषा के समीप कवित्त्वपूर्ण ढंग से पहुंचते हैं, तो भाषा ही कविता बन जाती है। कविता भाषा में उसी प्रकार निहित है, जिस प्रकार फूल में फल सन्निहित रहते हैं। 11. कविता, आवश्यक नहीं, छंदों में बंधकर चले, किंतु अच्छी-से-अच्छी कविता भी लय का परित्याग नहीं कर सकती है। लय कविता को स्थापत्य प्रदान करती है।

ये कथन हमें आश्वस्त करते हैं कि विजेंद्रजी की आलोचना दृष्टि में जहां एक ओर संतुलन है, लोकतांत्रिक मूल्य दृष्टि है, वहीं वे नए आलोचकों के लिए प्राथमिक पाठशाला की तरह हैं। यह पीढ़ी हिंदी आलोचना से गायब हो रही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक समय अनेक पीढ़ी के आलोचकों को साहित्य-विवेक का संस्कार दिया था, विजेंद्रजी भी कुछ इसी रूप में दिखाई देते हैं। वे जब कहते हैं कि 'सिद्धांत समीक्षक के सहायक हो सकते हैं, नियामक नहीं' तो एक सुलझी हुई आलोचना दृष्टि का परिचय देते हैं, जिसकी आज बड़ी जरूरत है। विजेंद्रजी इसी क्रम में अपने अगले लेखों—'व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक समीक्षा', 'दोषरहित, दूषण सहित' में आलोचना की सीमाओं को रेखांकित करते हुए श्रेष्ठ आलोचना दृष्टि की दिशाओं की ओर भी संकेत करते हैं। कॉलरिज शुद्ध सैद्धांतिक समीक्षक को अपर्याप्त एवं अपूर्ण मानते हैं, विजेंद्रजी का कथन है कि जो समीक्षक सिद्धांतों की चहारदीवारी में कैद हो जाता है, वह सहृदय नहीं रह जाता। कविताओं की व्याख्या में सिद्धांत हमारे सहायक बनकर आते हैं, वे हमारे नियामक नहीं बन सकते। यह साफगोई विजेंद्रजी के उन लेखों में भी दिखाई देती है, जो पाश्चात्य विचारकों से जुड़ी हुई है। 'तनाव और अभिव्यक्ति' लेख में विजेंद्रजी यह स्थापित करते हैं कि नई समीक्षा का 'तनाव' शब्द ऐलन टेट का है, किंतु यह कविता की व्याख्या के लिए अपर्याप्त है। 'तनाव' के सहारे ही यदि कविता की व्याख्या करनी हो तो कुंतक का महत्त्व ऐलन टेट से ज्यादा है, क्योंकि 'परस्पर स्पर्धित्व समभाव' पदोच्चम 'तनाव' से आगे ले जाता है। विजेंद्रजी का कथन है, 'काव्य में एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ परस्पर स्पर्धित्व समभाव रहना चाहिए। इस प्रकार वह अपने स्पर्धित्व के सिद्धांत को काव्यात्मक क्षण से काव्यात्मक सातत्य (पोयटिक कंटि-यूनम) का रूपांतरण और प्रसार देते हैं। ऐलन टेट अपने शास्त्र चिंतन में इस गरिमा का स्पर्श नहीं कर पाते हैं।'

विजेंद्रजी की मान्यता है कि केवल परिवेश के आधार पर रचना को अच्छी या बुरी बतलाना कुसमीक्षा का चूड़ांत निदर्शन है, यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि समाजशास्त्रीय आलोचना साहित्य की प्रकृति से संबंधित भूलों से बचने में सहायता करती है। आलोचना की प्रकृति को लेकर विजेंद्रजी बिंबवादियों, प्रतीकवादियों, मार्क्सवादियों एवं अन्य तमाम वादों से जुड़े चिंतकों से टकराकर कुछ सूत्र देते हैं, जो साहित्य के मूल्यांकन के लिए जरूरी लगते हैं—

1. पूंजीवादी श्रम विभाजन के कारण विशेषीकरण का जन्म हुआ और इसके

परिणामस्वरूप लेखन और आलोचना दोनों क्षेत्रों में प्रकृतिगत परिवर्तन हुए हैं। आलोचना अब संकीर्ण विशेषीकरण के क्षेत्र में संचरण करती है एवं विश्वजनीन दिलचस्पी वाले आलोचक उत्पन्न नहीं हो रहे हैं। अब उनकी दिलचस्पी के क्षेत्र का अति संकोच हो गया है और कोई आलोचक बिंबवादी है, प्रतीकवादी, कोई भाषा को ही चरम प्रतिमान मानता है और कोई मिथक तत्व को। 2. बिंब, प्रतीक, भाषा या सौंदर्य को ही एकमात्र प्रतिमान मानने वाले आलोचक साहित्यिक कुली या फेरीवाले हैं। 3. श्रेष्ठ आलोचना रचना के आंतरिक ताप को पचाने के क्रम में युग के ताप को भी पचा जाती है। यहीं उसके प्राणों का सही स्पंदन सुनाई पड़ता है, यहीं उसकी सार्थकता प्रमाणित होती है। 4. कलावादी आलोचना, परिवेशमुक्त आलोचना का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें रुधिर का प्रवाह नहीं बहता है। 5. जिस कविता का जातीय संस्कृति से जितना अपरिहार्य संबंध होता है, वह उतनी महान और कालजयी कविता होती है।

एक ऐसे समय में जब 'उर्वशी' को लेकर 'कल्पना' में वाद-विवाद का दौर चला था और आलोचनात्मक निकष के कई रूप दिखाई दिए थे, वे पुनः 'काव्यालोचन की समस्याएं और उर्वशी' में जीवंत हो उठे हैं। इस लेख के बहाने भी विजेंद्रजी काव्यालोचना की अनेक समस्याएं उठाते हैं, जिन पर बहस आज के समय में भी होनी चाहिए, क्योंकि आज भी आलोचना का एक बड़ा हिस्सा रूढ़िवाद की गिरफ्त में है। इसमें संदेह नहीं कि विजेंद्रजी ने 'शाश्वत साहित्य और आधुनिकता', 'परंपरा की प्रासंगिकता : आधुनिकता के संदर्भ में', 'काव्य में संप्रेषण की समस्या' आदि लेखों के बहाने अनेक ऐसे प्रश्न उठाए हैं, जिन पर आज नए सिरे से बहस होनी चाहिए, जिससे आलोचना के परिसर की धुंध साफ हो सके और यही इस किताब की चिंता भी है।

काव्यालोचना की समस्याएं/ विजेंद्र नारायण सिंह/ अभिधा प्रकाशन/ रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर-842002/ मूल्य : ₹ 150

संपादक—प्रस्थान, हिंदी-विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

'यूरोप के आधुनिक कवि' : एक जरूरी पुस्तक

रेनू शुक्ल

आजादी के बाद इस देश में विदेशी कविता पढ़ने की रुचि बढ़ी है, विशेषकर यूरोप की वह कविता, जिसकी भाषा से इस देश का पाठक सीधे-सीधे वाकिफ नहीं है। तमाम पत्रिकाओं और संकलनों ने उनका अनुवाद, जो अधिकांशतः अंग्रेजी में हुए अनुवाद का अनुवाद होता है, छापकर इसे सुलभ भी बनाया है, किंतु वह सामग्री एकदम से अपर्याप्त होती है। उससे किसी भी भाषा के किसी भी कवि का पूर्ण व्यक्तित्व सामने नहीं आ पाता है। श्रीप्रकाश मिश्र की सद्यःप्रकाशित पुस्तक 'यूरोप के आधुनिक कवि' इस कमी को पूरा करने का एक सशक्त प्रयास है। इसमें उन्होंने बादलेयर से लेकर शिंवोर्स्का तक कोई साठ कवियों पर अलग-अलग दो से लेकर आठ पृष्ठों का विश्लेषणात्मक लेख संकलित किया है। ये लेख दरअसल आलोचक रघुवंश मणि को लिखे पत्र हैं। पत्र होने के कारण बोध और अभिव्यक्ति की जो अंतरंगता है, निजी अनुभूति की जो तरलता है और कोई भी बात कह जाने की जो छूट है, उससे ये लेख बहुत ही प्रवाहपूर्ण और समृद्ध हो गए हैं, अति पठनीय।

श्रीप्रकाश मिश्र ने प्रमुख रूप से फ्रांस, रूस, जर्मनी, स्पेन, यूनान, इटली, स्वीडेन, पुर्तगाल आदि के कवियों के अलावा पूर्वी यूरोप के कवियों की चर्चा की है। इसमें अंग्रेजी के कवियों की चर्चा नहीं है, क्योंकि उनकी निगाह में भारतीय पाठक अंग्रेजी की कविता से सीधे परिचित हैं। दूसरे यह कि अंग्रेजी की कविता में आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों का समावेश मौलिक नहीं, अनुकरण पर आधारित है। यह बात विवादास्पद है। विशेषकर तब, जब हम पाते हैं कि कविता की आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों का जनक एडगर एलेन पो है, जो एक अमेरिकन अंग्रेजी कवि हैं। यह और बात है कि उसकी स्थापना का विकास और अनुकरण फ्रांस में बादलेयर, मलार्मे, बलेरी, रिंबो आदि के द्वारा हुआ और उनसे प्रभावित होकर यूरोप की दीगर भाषाओं में कविता लिखी गई। तब यदि अंग्रेजी में लिखी गई तो उससे परहेज क्यों?

श्रीप्रकाश मिश्र ने इन तमाम आधुनिकतावादी कवियों का विश्लेषण एक विशेष मानदंड पर किया है—कि उनकी रचना का सच क्या है? इसे व्याख्यायित करते हुए वे प्रश्न उठाते हैं कि क्या रचना के पीछे सच का मतलब कवि के जीवन से है? दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि रचना जिस विचार, अनुभूति, घटना, जोश, अवसाद, टकराव, बिंब, कल्पना वगैरह से उद्‌भूत हुई है, उसका परीक्षण किया जाए। तीसरा मतलब कवि का अपना

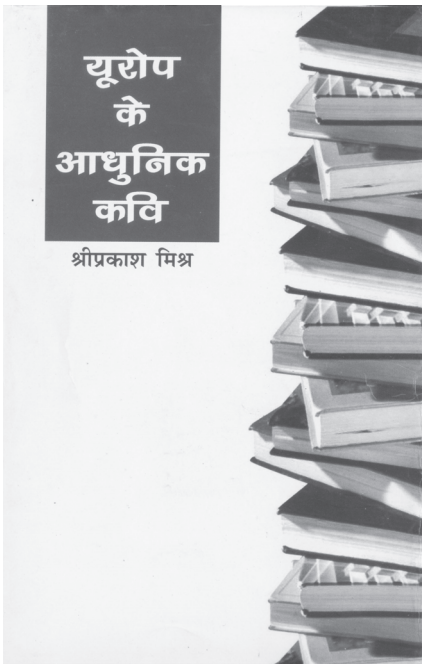

दर्शन हो सकता है। चौथा अर्थ कविता का निहितार्थ हो सकता है। पांचवें अर्थ का संबंध देश, काल और परिस्थिति से हो सकता है। वे पांचों का प्रयोग एक-एक कवि को विश्लेषित करने के लिए करते हैं। यह आग्रह इतना अधिक है कि पुस्तक का नाम यदि 'रचना का सच' होता तो अधिक सटीक लगता।

इस काम के लिए उन्होंने एक भाषा के कवियों को एक साथ उनके ऐतिहासिक क्रम से रखा है। इससे उस भाषा की कविता का आधुनिक काल में हुए विकास का पता चलता है। इसे और भी स्पष्ट करने के लिए उस भाषा के देश का संक्षिप्त आधुनिक इतिहास भी दिया है, जिससे कविता व कवि पर पड़े देश-काल का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। साथ ही उन्होंने यथाशक्य कवियों के जीवन में घटी महत्त्वपूर्ण घटनाओं और मोड़ों का भी जिक्र किया है, जिन्होंने उसके रचनाक्रम को प्रभावित किया है। उसे कहीं सत्यापित करने के लिए तो कहीं रचना के मर्म को खोलने के लिए डायरियों, लेखों और दूसरे आलोचकों के मत को भी उद्धरित किया है। साथ ही उस दौर में यूरोप में जो कविता, चित्रकला, संगीत आदि की प्रवृत्तियां चल रही थीं, और एक भाषा की कविता को दूसरी भाषा की कविता प्रभावित कर रही थी, उसे भी आचक्षु किया है। उन्होंने न केवल कविता के चले तमाम आंदोलनों जैसे रोमांटिसिज्म, ह्यूमनिज्म, आधुनिकतावाद, यथार्थवाद के विविध रूप, अतियथार्थवाद, जादुई और आभासित यथार्थ, शुद्ध कविता, प्रतीकवाद, बिंबवाद, अभिव्यक्तिवाद, नानसेंस कविता, अकविता, प्रतिकविता, आवां गार्द, फ्युचरिज्म, एब्सर्ड कविता आदि पर व्याख्यात्मक और सटीक आलोचनात्मक टिप्पणी की है, आधुनिक युग के उन दार्शनिकों के विचारों को भी यथा प्रसंग विवेचित किया है, जिन्होंने आधुनिक यूरोप की कविता को प्रभावित किया है—यथा हाब्स, लाक, रूसो, वाल्टेयर, स्पिनोजा, नित्से, शोपेनहावर, हिगेल, मार्क्स, फ्रायड, लेनिन, ह्यूम, जुंग, एडलर, मैक्डूगल, कांट, डेवी, किर्कगार्ड, यास्पर्स, हेडेग्गर, सार्त्र, लुकाच, एडोर्नो वगैरह। इसी तरह दर्शन में चले अनुभववाद, विज्ञानवाद, प्रत्यक्षवाद, मार्क्सवाद वगैरह की भी मीमांसा की है। उन्होंने तमाम यूरोपीय कवियों की बातों को समझाने के लिए तमाम समकालीन हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों की रचनाओं से कहीं तुलना की है, तो वही कंट्रास्ट दिखाया है। इससे पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। और सामान्य पाठक भी वही जानकारी ग्रहण कर पाता है, जो प्रबुद्ध पाठक। ऐसे में अरागों और मिलोष जैसे कवियों का छूट जाना खलता है।

अपनी पूरी विवेचना में श्रीप्रकाश मिश्र स्पष्ट करते हैं कि यूरोप की आधुनिक कविता के तीन लक्ष्य हैं : सौंदर्य, मानवता और सत्ता में हिस्सेदारी। यह सत्ता में हिस्सेदारी दरअसल आलोचकों की देन थी। वे रचना को विचारधारा के आलोक में देखते थे और विचारधारा को सत्ता के छद्म के रूप में लेते थे। ग्राम्शी के बाद उसका इस्तेमाल बेहतर भविष्य के निर्माण के साधन के रूप में होने लगा। ऐसे में कवि तो मानवता को ही बेहतर करना चाहता था। इसलिए कविता उतनी नहीं थी, जितनी आलोचना और उसमें भी मार्क्सवादी आलोचना। श्रीप्रकाश मिश्र दिखाते हैं कि सौंदर्यप्रणीत कविता जहां शुद्ध कविता की ओर अग्रसर हुई, व्यक्ति के आंतर और अभिव्यक्ति भी विशिष्टता तक सीमित होती हुई, वहीं मानवतावादी कविता एक वैकल्पिक जगत की तलाश की ओर बढ़ी, चाहे वह व्यक्ति के स्तर पर हो या समूह के स्तर पर। पहली कविता जहां इतिहास, अध्यात्म्य और मनोविज्ञान की रहस्यमयता की झलक प्रस्तुत कर रही थी, दूसरी कविता जगत के यथार्थ और योजना बनाकर उसे बदलने की वकालत कर रही थी। श्रीप्रकाश मिश्र इस यथार्थवादी कविता को, जिसे वे अनेक स्थलों पर मार्क्सवादी कविता कहते हैं, तीन खानों में बांटते हैं—जहां समाजवादी सरकार स्थापित हो गई थी, वहां समाजवादी यथार्थ की कविता, जहां नहीं हुई थी, पर प्रयत्न जारी था, वहां समाजवादी यथार्थ की कविता, और जहां साम्यवाद की चाह होते हुए भी, यदि सरकार को बलात् थोप दिया गया था, तो उसके विरोध की कविता। आवां-गार्द, फ्युचरिज्म, पूर्वी यूरोप की तमाम भाषाओं की कविता, अन्ना आख्मातोवा, पास्तरनाक वगैरह की कविता की मीसांसा वे इसी दृष्टि से करते हैं और पाते हैं कि अच्छी कविता हमशा प्रोटेस्ट में लिखी जाती है। वे यह भी बताते हैं कि सौंदर्यवादी कविता यदि यथार्थ की ओर लौटती है, तो उसका स्वरूप जादुई यथार्थ का, आभासित यथार्थ का हो जाता है। उनकी ये स्थापनाएं भी विषद मीमांसा मांगती हैं।

यह यूरोप की कविता कैसे भारत की आजादी से थोड़ा पहले से तमाम भाषाओं की कविता को प्रभावित कर रही है, इसके प्रति इशारा उन्होंने कई जगह यथाप्रसंग किया है। यदि स्वतंत्र रूप से कोई विस्तृत लेख इस प्रसंग पर समाहित किया गया होता तो पुस्तक और भी उपादेय हो जाती। इसी तरह हिंदी के अलावा अन्य भारतीय भाषाओं की कविता से भी कुछ तुलनात्मक परिचय कराया गया होता तो इसकी उपयोगिता और बढ़ जाती। ऐसी अपेक्षा इसलिए बनती है कि वे बंगाली, गुजराती, असमिया आदि की कविताओं से परिचित लगते हैं अपने आलेखों में।

पूरी पुस्तक को पढ़कर लगता है कि यह पुस्तक हमारे समय के हर हिंदीभाषी कविता पाठक के पास होनी ही चाहिए।

यूरोप के आधुनिक कवि/श्री प्रकाश मिश्र/लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211001/मूल्य : ₹ 450

एल-5/30, अलीगंज, लखनऊ (उ.प्र.)
मो. 09451869599

स्मृतियों का रीमिक्स पाठ

आनंदप्रकाश त्रिपाठी

कांतिकुमार जैन हिंदी संस्मरण की दुनिया के सुपर हीरो हैं। साहित्य के बॉक्स ऑफिस पर एक से बढ़कर एक हिट संस्मरण देकर उन्होंने 'ओबीसी' मानी जाने वाली इस विधा को मुख्यधारा में केंद्रीय दर्जा दिलाया है। उनके संस्मरण जिन पत्रिकाओं में छपे, उनकी 'टीआरपी' (सर्कुलेशन) का ग्राफ ही नहीं बढ़ा, पाठकों का 'बिग बाजार' और लेखकों का बड़ा वर्ग तैयार हुआ। पत्रकारिता और राजनीति के स्टिंग ऑपरेशन की तर्ज पर 'गोपन को ओपन' करने वाले अपने संस्मरणों में जब प्रातः स्मरणीयों के छद्म एवं दुचित्तेपन पर निशाना साधा तो उन पर अनैतिकता, अश्लीलता, तथ्यों से छेड़छाड़, स्वयं को दूध का धुला दिखाने जैसे गंभीर आरोप लगे। न्यायालय में घसीटने की नाकाम कोशिश भी की गई, लेकिन 'जो कहूंगा सच कहूंगा' की टेक पर वे डंके की चोट पर मैदान में डटे रहे। संस्मरण में उनके नए तेवर, नई भंगिमा, नई शैली, नए मुहावरे और नई भाषा को अधिकांश साहित्यकारों ने सराहा और पाठक ने उन्हें सिर-आंखों पर बिठाया। संस्मरणों में ही उन्होंने इस विधा का नया शास्त्र गढ़ा, उसकी रचना प्रक्रिया और संस्मरण लेखन के व्यावहारिक गुर भी बताए। सृजन की यह यात्रा निरंतर जारी है। अपनी बेधक और बेबाक शैली के लिए लोकप्रिय कांतिकुमार जैन के संस्मरणों की चार पुस्तकें—'लौटकर आना नहीं होगा', 'तुम्हारा परसाई', 'जो कहूंगा सच कहूंगा', 'अब तो बात फैल गई' प्रकाशित हो चुकी हैं।

'बैकुंठपुर में बचपन' कांतिकुमार जैन के संस्मरणों की पांचवीं पुस्तक है, जिसकी भावभूमि पूर्ववर्ती संस्मरणों से बिल्कुल भिन्न है। उन्मुक्त मन से लिखे गए रससिक्त संस्मरणों की यह अनमोल कृति है, जिसमें केवल राग ही राग है, द्वेष नहीं। इसमें 80 वर्षीय लेखक ने बैकुंठपुर में व्यतीत उस बचपन को याद किया है; जिसका कुल समय सात से सोलह वर्ष की वय, अर्थात् नौ-दस साल है और जो सात दशक पूर्व गुजर चुका है। यह वस्तुतः उसके बचपन का स्मृत्यालेख है, जिसे 'वर्षों बाद याद रह गया आख्यान' अथवा 'क्रीड़ाख्यान' कहा गया है। इस आख्यान में महत्त्वपूर्ण है—स्थान और समय। स्थान तो बैकुंठपुर है, पर समय में लेखक ने हेर-फेर किया है। बकौल लेखक—'अब जब उन नौ-दस वर्षों का आख्यान लिख रहा हूं तो केवल बचपन की ही नहीं, बचपन के बाद की भी, अब तक की, बहुत-सी स्मृतियां हठीले बच्चे की तरह इस क्रीड़ाख्यान में सम्मिलित होने की जिद कर रही हैं।' जाहिर है कि इसमें लेखक के अनुभव एवं अध्ययन का सुंदर संयोग है। 'रिवर्स गेयर' में समय का पीछा करने जैसा अनुभव भी सम्मिलित है। इन संस्मरणों के केंद्र में व्यक्ति ही नहीं, उसके बहाने समूचे समाज, परिवेश और संस्कृति को भी खंगाला गया है और इस क्रम में लेखक

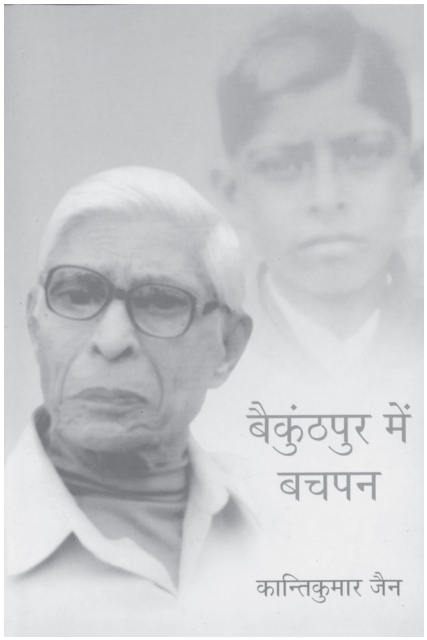

समाज के 'डिजोनेंस' की तह तक पहुंचने में समर्थ हुआ है। निस्संदेह, अपने संस्कारों, अपने अनुभवों और अपनी जातीय स्मृतियों की 'रीमिक्सिंग' लेखक की उपलब्धि है।

पुस्तक की भूमिका 'बचपन के संस्मरण : स्मृतियों का रीमिक्स' में संस्मरण विधा में स्मृति के रूपों व उसके प्रयोग पर विभिन्न कोणों से विचार करते हुए एक स्थान पर कांतिकुमार लिखते हैं, 'साहित्य के त्रिकोण का एक सिरा स्मृति है, दूसरा रचनाकार और तीसरा संप्रेषण। स्मृति का संप्रेषण तनी हुई रस्सी पर चलने जैसा है, रस्सी पर पांव का संतुलन जरा भी बिगड़ा कि नट औंधे मुंह गिरा। स्मृति संस्मरण विधा का मुख्य आधार है, अतः संस्मरण को साहित्य की सबसे नाजुक और खतरनाक विधा माना गया है। यहां लेखक पर अश्लीलता का,चरित्र हनन का, हिसाब-किताब चुकाने का आरोप लगाना सबसे आसान होता है, पर जो संस्मरणकार संस्मरण में स्मृति का ही सहारा लेते हैं, वे श्रद्धा या निंदा के अतिरेक में ज्यादा फंसते हैं। जो स्मृति के स्थान पर प्रत्यभिज्ञा को संस्मरण का आधार बनाते हैं, वे संस्मृत के साथ ही उसके परिवेश का, उसकी मूल्यचर्या का, उसकी मनोसामाजिक स्थिति का भी चित्रण करते हैं। ऐसे संस्मरण लेखकों के लिए द्रौपदी का चीरहरण ही महत्त्वपूर्ण नहीं होता, चीरहरण के लिए प्रेरित करने वाली मानसिकता, सामाजिक व्यवस्था एवं सांस्कृतिक मूल्यों का कपड़छन करना भी अभीष्ट होता है।' लेखक की दृष्टि में 'सच्चा संस्मरण लेखक दुर्योधन नहीं, वेदव्यास होता है। वह तो केवल रिपोर्टर है, अपराधी नहीं।' उल्लेखनीय है कि इन संस्मरणों में डॉ. जैन की भूमिका एक रिपोर्टर की है, जिसने पाठक को साथ लेकर बैकुंठपुर की सैर कराई है।

'बैकुंठपुर कहां है?' से लेकर 'अलविदा

बैकुंठपुर : अलविदा बचपन' तक कुल पैंतालीस छोटे-बड़े संस्मरणों में लेखक ने बैकुंठपुर की आत्मा को आवाज दी है। अपने विविध रंग-रूपों में बैकुंठपुर पूरी अस्मिता, सौंदर्य, परिवेश, भूगोल, इतिहास, कला-संस्कृति समेत सजीव हुआ है। लेखक ने जिस रचनात्मक ऊर्जा, भावात्मक लगाव एवं संवेदना से संपृक्त होकर बैकुंठपुर को पुनः जीते हुए कागज पर उकेरा है, वह सचमुच अद्वितीय है।

बैकुंठपुर छत्तीसगढ़ की कोरिया रियासत की राजधानी थी। आदिवासी बहुल इस कस्बे को कोरियावासी 'नगर' कहते थे। 1939 में लेखक अपने परिवार संग सागर के देवरी कलां (कस्बा) से बैकुंठपुर पहुंचा, जहां उसके पिता इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल्स के रूप में पदस्थ थे। बैकुंठपुर 'तीन दुकानों की राजधानी' थी। इनमें 'सबसे नफीस और बैकुंठपुर के लिहाज से हाईफाई सामान बेचने वाली दुकान राजदान साहब की थी, राज स्टोर्स।' दूसरी दुकान पन्नालाल की गुप्ता जनरल स्टोर्स के नाम से थी और तीसरी दुकान बाई सागर के किनारे कच्ची सड़क से लगी हुई बिन्ना की बऊ की थी, जहां घर की रसोई में काम आने वाली सभी चीजें मिलतीं। आदिवासियों के लिए बैकुंठपुर में कोई दुकान नहीं थी, क्योंकि 'समस्त प्रकृति ही उनकी दुकान होती है। प्यास लगी, झरने से पानी पी लिया या ढोड़ी में जरा-सा झुके, चुल्लू में पानी आ गया। भूख लगी तो तेंदु के पेड़ से तेंदू तोड़ लिए, खेत से मकई का भुट्टा ले आए। नदियों में मछलियां होती हैं, पेड़ों पर शहद। महुए में मद होता है, चकौड़ा के पत्तों में भाजी। तीर के लिए जंगल में बांस-ही-बांस हैं, प्रकृति ने पैर में पंजे दिए हैं तो न पनही चाहिए, न खरपा। शृंगार के लिए गोदने-ही-गोदने, न सुनार की जरूरत, न मनिहार की।' ध्यातव्य है कि आदिवासियों की जीवन-चर्या, स्वभाव, वेशभूषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज एवं उनकी आशा-आकांक्षाओं के अनेक चित्र पुस्तक में संश्लिष्ट हैं। आदिवासियों के जीवन संघर्ष को सहानुभूति एवं हार्दिकता के साथ देखा-समझा गया है। सहपाठी अहिबरन, चरकट्टा, टोनाहिन, गुदनारी, छप्पर छाने वाला कोड़िहा, रजवारिन, पहलवान, बाई, चिलबिलहिन और उसका सईस पति आदि। आदिवासी चरित्रों के दुःख-सुख में लोक उनका साथी रहा है।

'बैकुंठपुर में बचपन' में बड़े नाम कम ही हैं—इस घोषणा से साफ जाहिर है कि उसने समाज के दबे-कुचले, पिछड़े एवं साधारण जन की व्यथा-कथा कहने में संकोच नहीं किया है। आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से हीन, किंतु जीवन-संघर्ष में सक्रिय इन पात्रों से लेखक का जुड़ाव उसके प्रगतिशील होने का प्रमाण है। उसे गर्व है कि स्मृति के रूप में 'वे सब जो मेरे जीवन में थे और जो काल के लंबे अंतराल को चीरकर अभी तक मेरे साथ बने हुए हैं।' बचपन का साथी जीतू, सहपाठी ईसुरी (हरकारा), फतेउल्ला खां, गोविंद सिंह, स्कूल के मास्टर साहब, बैंडमास्टर जॉनी केरकेट्टा, मुश्किल खां, जंगल साहब, गार्डेन सुपरिंटेंडेंट, फकीरा सिंह ऐसे ही कुछ पात्र हैं, जिनके साहचर्य की स्मृतियां लेखक को आज भी प्राणवान बनाए हुए है। ईसुरी का स्मरण करते हुए वह लिखता है, ''ईसुरी से मेरा संपर्क बाद में भी बना रहा। मैं उसे चिट्ठियां लिखता—केअर ऑफ पोस्टमास्टर, बैकुंठपुर (कोरिया, ई.एस.ए.)। उसके उत्तर भी आते। उसकी शादी हुई, बाल-बच्चे भी हुए। बच्चों के लिए बैकुंठपुर छोटा पड़ने लगा, पर ईसुरी के लिए बैकुंठपुर अनंत था...पिछली बार अपनी सेवानिवृत्ति के बाद जब मैं बैकुंठपुर गया 1992 में तो मुझे स्कूल के दिनों के बहुत-से दोस्त तो मिले, ईसुरी नहीं मिला। बचपन का मेरा यार एक रात सोया तो सोता ही रह गया। पता चला हार्टफेल। मैं समझ गया, ईसुरी ने इहलोक की बीट की अपनी सारी डाक बांट दी थी। उसकी पेंशन का हिसाब बहुत दिनों से लटका पड़ा था। उसने बिलासपुर और नागपुर के डाक अधिकारियों के बहुत चक्कर काटे। वह हरकारे की अपनी नौकरी में 10-12 सालों में जितना नहीं थका था, उतना चार साल में पेंशन के लिए चक्कर काटने में थक गया। उसने सोचा, दुनिया के सबसे बड़े पोस्ट ऑफिस का भी एक चक्कर लगा लिया जाए। अपनी बेदाग वर्दी पहने वह बैकुंठपुर से बैकुंठधाम पहुंच गया। पता नहीं, वहां भी उसकी पेंशन मंजूर हुई या नहीं, पर ईसुरी को मैं भूल नहीं पाता। ईसुरी की जब याद आती है तो कबीर की एक पंक्ति हरकारे के बल्लम में बंधे घुंघरुओं की आवाज की तरह कानों में गूंजने लगती है। ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया।'

बैकुंठपुर के बरक्स लेखक ने वहां की नदियों, वृक्षों, फलों, सांपों और हाथियों को भी अपने आख्यान का विषय बनाया है। बालपन की निर्दोष व चंचल आंखों में समाई प्रकृति की नाना मोहक छवियां, मार्मिक घटना-प्रसंग अत्यंत जीवंत रूप में संपूर्ण कृति में बिखरे हुए हैं। वनस्पति और प्राणी जगत के ढेरों अंतरंग रहस्यों का उद्घाटन है। 'एक हँसमुख नदी की यादें', 'सीता की लट', 'द्वंद्वयुद्ध में विषधर करैत की मौत', 'एक हाथी की अंत्येष्टि', 'जंगल के राजा का शिकार', 'जंगली फलों का स्वाद', 'टिड्डियों का हमला', 'शेर बच्चा' आदि संस्मरण इस दृष्टि से पठनीय हैं। पूरी पुस्तक रंग-बिरंगे आकर्षक चित्रपट की भांति बैकुंठपुर के जीवन-सौंदर्य को समेटे हुए पाठक के सम्मुख खुलती है, जिसे बार-बार देखने की इच्छा कभी खत्म नहीं होती। प्रकृति की गोद में बसे बैकुंठपुर के बेहविध सौंदर्य के जैसे आह्लादकारी दृश्य 'जित देखो तित बांस', 'बैकुंठपुर की झरबेरियां', 'जंगली फलों का स्वाद' में अंकित हैं, उन्हें पढ़ना एक यादगार अनुभव है। 'जित देखो तित बांस' शीर्षक संस्मरण में बांस का एक अद्भुत संसार है, जिसमें उसके इतिहास, प्रजाति उपयोग, महत्त्व आदि से जुड़ी न जाने कितनी ज्ञानवर्धक बातें हुई हैं। लेखक की कल्पनाशीलता एवं तथ्य-सत्यों की खोज व प्रस्तुति बेहद सटीक और प्रासंगिक है। बांस या वंश की महत्ता को प्रमाणित करने के लिए उसने सन् 1960 में सोवियत संघ के तत्कालीन राष्ट्राध्यक्ष ख्रुश्चेव की भारत यात्रा का जिक्र कुछ इस तरह किया है, ''अक्टूबर का महीना था। दुर्ग और भिलाई के बीच धान के खेतों में स्त्रियां धान काट रही थीं, गीत गाते हुए। ख्रुश्चेव को अपना बचपन याद आया, किसानत्व कुलबुलाया, नेहरू से बोले आइए—धान काटते हैं। जब तक नेहरू अपने अतिथि के प्रस्ताव का मर्म समझ पाते, ख्रुश्चेव ने अपनी पैंट के पांयचे उठाए, बुश्शर्ट की बांहें मोड़ीं और मय जूतों के धान के एक खेत में उतर गए। एक स्त्री से हंसिया लिया और धान काटकर एक पूल बना दिया। लोग भौंचक, सुरक्षाकर्मी असमंजस में, नेहरू विस्मित। ख्रुश्चेव अपने मिट्टी सने जूतों के साथ जब जीप में वापस चढ़े तो नेहरूजी से बोले—आपकी अचकन और शेरवानी के साथ यही दिक्कत है।'' अपने नेता के व्यक्तित्व पर यह करारी चोट किसी अन्य ने नहीं, लेखक ने की है। अन्यत्र भी वह यथाप्रसंग समाज में व्याप्त

राजनीतिक विकृतियों, सांस्कृतिक प्रदूषण, मूल्यहीनता पर असंतोष व्यक्त करता है।

'बैकुंठपुर में बचपन' में कांतिकुमार जैन ने लोक-जीवन के अपने अनुभवों में ज्ञान के अन्य स्रोतों से प्राप्त सामग्री का कुशल संयोजन कर कथा को आकर्षक एवं विश्वसनीय बनाया है। बैकुंठपुर में प्रचलित आमा उगाली, गुच्चू, गढ़ा गेंद, कबड्डी जैसे खेलों का जिक्र करते हुए वे उनके नियमों की ही चर्चा नहीं करते, उन खेलों से जुड़ी अपनी स्मृतियों का बखान भी करते हैं। 'क्रिकेट के जन्म की लोककथा' में एक सयाने (व्यक्ति) के हवाले से त्रेता युग में वनवासी राम, लक्ष्मण और स्थानीय जनता के सहयोग से खेले जाने वाले क्रिकेट के पूर्वज रामरस की रोचक कथा प्रस्तुत करते हैं। 'चुरकी में भरकर दारू के समान पीने का माद्दा' में शराब बनाने की विधि और उसके लिए जरूरी सामग्री की जानकारी देने तक ही सीमित नहीं रहते, दारूबाजी और आदिवासियों में उसकी लोकप्रियता को रेखांकित भी करते हैं। 'गेदी के गोदने', 'सीता की लट', 'बैकुंठपुर में बहुरूपिये', 'उढ़का रात में आते' संस्मरणों में लेखक ने लोक प्रचलित रीति-रिवाजों, कलाओं, किंवदंतियों, अंधविश्वासों को आधार बनाकर बचपन की चुलबुली हरकतों, जिज्ञासाओं व शंका-समाधान आदि गतिविधियों को साकार किया है। स्थानीय लोगों के उपयोग में आनेवाली लौकिक वस्तुओं एवं उपकरणों की चर्चा अनेक अवसरों पर आई है। 'जित देखो तित बांस ही बांस' में बांस से बनी वस्तुओं की लंबी सूची है, जिसमें लब्दा, पिचकारी, सिरकी, जिड़गी, टिड़गा, खटिया, ढेंकुली, चोरया, ठाठ-मयानी, खौंदरा, चंगेला-चंगेली, झांपी, दौरी, तरौना, पर्रा, पशुली, बिजबोनी, बैनत, मोरा, पिटारा, पनौटा, बिरौटा, इंगरौटा, खोमरा, छितौरी, लाठी, डांग, गोनी, लग्गी, बोंग, संटी, रूखरखैया आदि शामिल हैं। लेखक ने एक अनूठी शैली विकसित कर इन वस्तुओं का आशय एवं उपयोग पाठक को समझाया है। 'खरहरा' लोहे की कंघी होती है—चौकोर। बीच-बीच में दांत उठे हुए—खरहरा को कंघी नहीं घोड़े का ब्रश कहना ज्यादा ठीक होगा।' इसी तरह 'लब्दा यानी एक डंडा, जिसे निशाना साधकर पेड़ की फलयुक्त उगाल पर मारने से फल नीचे आ जाते हैं।

'बैकुंठपुर में बचपन' में कांतिकुमार जैन के संस्मरण हिंदी के बिंदास गद्य का उत्कृष्ट नमूना पेश करते हैं। दरेरा देकर अपनी भाषा से मनचाहा कहलवा लेने के लिए चर्चित जैन साहब की भाषिक सहजता, कोमलता और मार्मिकता यहां देखते ही बनती है। लोक-जीवन की गंध एवं आधुनिक जीवनबोध से भरपूर भाषा में गजब का चुंबकीय आकर्षण है। आदिवासी स्त्रियों की सुंदरता हो या गेज नदी की हँसी, उसकी आलंकारिक अभिव्यक्ति सम्मोहित कर लेती है। 'जैसे कोई बच्चा दूध पीने के बाद हँसे तो उसके मुंह से दूध छलक-छलक जाता है, वैसे ही गेज की हँसी उसकी लहरों से छलक-छलक जाती थी।' लेखक की खासियत है कि वह अपने आसपास हिंदी, उर्दू या स्थानीय बोलियों की फेंस नहीं लगाता। छत्तीसगढ़ी बोली के सैकड़ों शब्द इसीलिए अनायास आए हैं, जैसे पुंदलियाना, खरहरा, रूखरखैया, बछड़प्रेम, घरजीहां, गाड़ा (गाड़ी), बट्टू, गोखा, रंधाधर, ढेरेच, काबर, मोरबर, बिसाव, उलार, सिंकहर, जुनेरी आदि। मनिहारिन काकी की बुंदेली हर किसी के लिए बोधगम्य है—'हाय राम, ऐसी नहीं हो सकत, खुदा की सौं, बाई साहब, ऐसोई भओ है हमाऔ मुस्किल तो इत्ती खुनसाओं हतो कि सेक्रेटरी साहब के घींच काट देती, पर बाई हमाऔ एकई मोड़ा है।' विचारों की सटीक अभिव्यक्ति के लिए लेखक मौके पर सूक्तियां भी गढ़ लेता है—'मोलभाव करने से आभिजात्य खंडित होता है और विलास का मजा चला जाता है।', 'बेशर्मी बहुरूपिया बनने की अनिवार्य शर्त है।', 'ठर्राखोरों की न जिंदगी का कोई टाइम टेबिल होता है, न मौत का।', 'भिक्षा की संस्कृति श्रम से पलायन की संस्कृति है, वह परजीवी संस्कृति है, प्रकृति पर अविश्वास करने की संस्कृति है।' कहना होगा कि कांतिकुमार की भाषा पाठक पर जादुई प्रभाव छोड़ती है। संस्मरणों के शीर्षक भी किसी रहस्यलोक में ले जाते प्रतीत होते हैं। 'तुआ ततकार, गुलेल फटकार', 'अंटा गुड़गुड़ की रात', 'टोनाहिन की झाड़ू', 'वह कटी हुई अंगुली किसकी थी?', 'शीशा पत्थर पर गिरे फिर भी आवाज न हो', 'दुनिया की सबसे बड़ी माली' जैसे कौतुकपूर्ण शीर्षक 'एलिस इन वंडरलैंड' की चमत्कार एवं रोमांचभरी दुनिया की याद दिलाते हैं। जैन साहब के इन संस्मरणों में गद्य की लगभग सभी विधाओं—कथा, रेखाचित्र, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, डायरी, आत्मवृत्त, पत्र, निबंध की आवाजाही बराबर बनी हुई है।

बैकुंठपुर का लेखक के जीवन में कितना महत्त्व है, इसे अनेक बार उसने दोहराया है। मसलन 'शब्दों की विवक्षा तक पहुंचाने का कार्य मेरे लिए बैकुंठपुर ने किया।...शब्दों से प्रेम मुझे बैकुंठपुर से मिला।...बैकुंठपुर में मैंने जो बचपन व्यतीत किया था, वह बचपन ही नहीं था, मेरे शेष जीवन का पूर्वाभ्यास भी था। बैकुंठपुर में बचपन में मैंने जो अनुभव अर्जित किए थे, वे जीवन भर मेरे काम आए।' सूर की उक्ति है—'लरिकाई को प्रेम कहो अलि अब कैसे छूटै।' सो कांतिकुमार का बचपन भला उनसे कैसे छूटता। बैकुंठपुर का बचपन न केवल उनकी स्मृतियों में गहरे भिदा है, बल्कि उनकी रगों में आज भी प्रवाहित होता है। बैकुंठपुर के इन आख्यानों को पढ़ते हुए अंग्रेजी कथाकार आर. के. नारायण के 'मालगुड़ी डेज़' की याद बरबस आती है। गौरतलब है कि 'मालगुड़ी' आर. के. की काल्पनिक सृष्टि है, लेकिन 'बैकुंठपुर' कांतिकुमार का यथार्थ लोक है, जिसे पूरी आत्मीयता, संवेदना और आस्था के साथ उन्होंने बड़े करीने से रचा है। इस संपूर्ण रचाव में बैकुंठपुर का समग्र पर्यावरण सांस लेता नजर आता है। बैकुंठपुर को जिस सजधज में उन्होंने पेश किया है, उम्मीद है उसे पढ़कर कोई भी लेखक अपने 'बैकुंठपुर' को तलाश सकेगा, क्योंकि यह हममें से हर किसी का लघुत्तम समापवर्तक है।

कांतिकुमार जैन के संस्मरणों को पढ़ते-गुनते हुए अक्सर लगता है कि उनके संस्मरणकार में एक कथाकार भी मौजूद है। यदि वे कोई उपन्यास लिखें तो हिंदी की एक नायाब कृति होगी और नए लेखकों को कथा-लेखन की नई रहा सूझेगी। संभव है हमारे प्रिय संस्मरण लेखक कांतिकुमार जैन उपन्यास-लेखन में अपनी लोकप्रिय संस्मरण शैली का कोई कमाल दिखाएं। आमीन!

बैकुंठपुर में बचपन/कांतिकुमार जैन/सामयिक बुक्स/3320-21, जटवाड़ा, दरियागंज/नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 360

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर, वि.वि. सागर (म.प्र.) दूरभाष 07582-228410

प्रभाष जोशी : अंधेरे में मशाल

प्रेमपाल शर्मा

हिंदी पत्रकारिता का इतिहास जब भी लिखा जाएगा, प्रभाष जोशी को शामिल किए बिना वह अधूरा रहेगा। 5 नवंबर, 2009 को अपनी जीवन-यात्रा पूरी कर उनको गए बहुत ज्यादा दिन नहीं हुए, लेकिन देश की मौजूदा स्थिति पर उनकी बेबाक राय और आंदोलनधर्मिता की कमी सभी को खल रही है। भ्रष्टाचार के मुद्दे पर पूरे देश में सनसनी जरूर है, लेकिन इसकी तुलना जे. पी. आंदोलन से करना शायद अनुचित और बड़बोलापन ही कहा जाएगा। जे. पी. आंदोलन की पृष्ठभूमि में भ्रष्टाचार से भी ज्यादा पूरा संसदीय लोकतंत्र, सत्ता की तानाशाही, अव्यवस्था और केंद्र-राज्य संबंध जैसे वे सभी मुद्दे थे, जिनके बिना लोकतंत्र की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रभाष जोशी की कलम यदि जिंदा होती तो जनसत्ता के पहले पृष्ठ से ही मोर्चा संभाल लेते। जे. पी. आंदोलन और उसके बाद नित्य रूप बदलती हर दल की सत्ता के साथ-साथ उदारीकरण की विदेशी सड़क पर चलकर मानवीय विकास का मुखौटा लगाए कांग्रेसी लोकतंत्र को उनसे बेहतर कौन जानता है? वे पत्रकार की हैसियत के साथ-साथ एक सक्रिय गांधीवादी कार्यकर्ता और कोर समूह के सदस्य के रूप में जे. पी. आंदोलन के साथ रहे थे। '21वीं सदी : पहला दशक' में संकलित लगभग 127 लेख और 'आगे अंधी गली है' के 71 लेख उनके व्यापक राजनैतिक चिंतन के प्रमाण हैं।

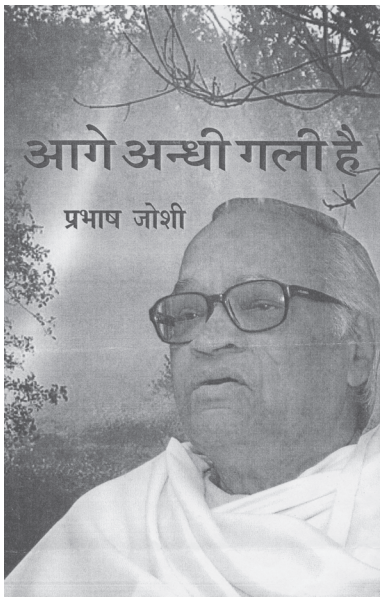

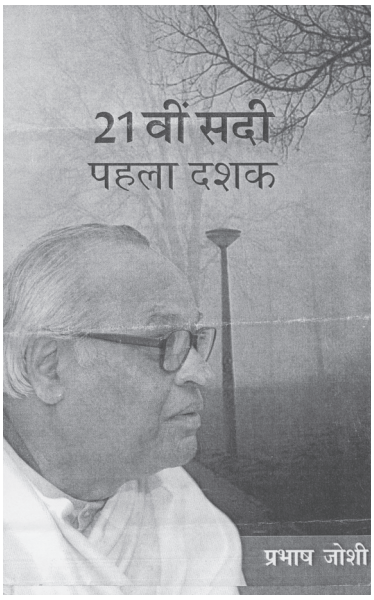

'21वीं सदी : पहला दशक' के पहले लेख का ही शीर्षक है—'एक भ्रष्ट और ढोंगी सरकार की उल्टी गिनती शुरू'। प्रभाष जोशी 2011 के मई-जून में जंतर-मंतर शीर्षक कॉलम लिखते तो यकीन है शीर्षक यही रहता। दस साल पहले लिखे इस लेख और अन्ना हजारे और रामदेव के आंदोलन के संदर्भ में उनकी टिप्पणी से उनकी राजनीतिक निष्पक्षता भी साबित होती, क्योंकि पिछले 20 वर्ष से उनके लेखन के आधार पर दक्षिणपंथी उन पर भाजपा के खिलाफ अभियान चलाने का आरोप लगाते रहे हैं। प्रभाष जोशी के लेखन को जो जानता है, उन्हें पता है कि उनका पत्रकारीय धर्म किसी भी सत्ता के समर्थन में न जाकर सत्ता को चुनौती और चेतावनी के रूप में सामने आता है। पुस्तक के संपादक सुरेश शर्मा की संपादकीय में लिखी बातें उनके योगदान को बेहतर अभिव्यक्त करती हैं। 'उन्होंने पत्रकारिता को सक्रिय सामाजिक संबद्धता का पर्याय बना दिया। उनकी पत्रकारिता खोखले चिंतन और विश्लेषण की पत्रकारिता नहीं है, बल्कि सामाजिक सक्रियता और विसंगतियों के विरुद्ध हस्तक्षेप की पत्रकारिता है।' जहां आम लोगों ने उदारीकरण के विरुद्ध आवाज उठाई, वहां प्रभाषजी उनके साथ थे।

उनके हस्तक्षेप से कौन-सा मुद्दा बचा था? अयोध्या, मंडल-कमंडल, उदारीकरण के खिलाफ जंग, 1857 की क्रांति, तिब्बत, मीडिया में नोट के बदले समाचार से लेकर हिंदी भाषा साहित्य पर लिखी सैकड़ों टिप्पणियां, लेख और भाषण।

भ्रष्टाचार पर केंद्रित यह लेख वाजपेयी सरकार के प्रधानमंत्रित्व के समय तहलका अखबार द्वारा रक्षा सौदों और दूसरे कई मामलों में दलाली के भंडाफोड़ के समय 2001 में लिखा गया है। पाठकों को याद होगा तहलका के इस भंडाफोड़ के बाद भाजपा के सांसद बंगारू लक्ष्मण और एक-दो केंद्रीय मंत्रियों को इस्तीफा देना पड़ा था। जॉर्ज फर्नांडीस, रंजन भट्टाचार्य की भी किरकिरी हुई थी। सरकार ने तहलका की टीम को भी कम परेशान नहीं किया था। प्रभाषजी का निष्कर्ष सही निकला। 'जिस सच्चाई को तहलका सामने लाया है, उसे झुठलाया नहीं जा सकता।' भ्रष्टाचार पर और भी कई लेख हैं इस खंड में। वाजपेयी की सरकार एनडीए और मनमोहन सिंह की यूपीए दोनों सरकारों के समय हर हफ्ते जनसत्ता में लिखते रहे। केवल भ्रष्टाचार ही नहीं, वाजपेयी सरकार

की औद्योगिक नीतियां भी मोटा-मोटी वही रहीं, जो नरसिंह राव के समय से चली आ रही थीं। संघ के दत्तोपंत ठेंगड़ी ने सरकार की इन नीतियों की खुलकर आलोचना की और कहा कि 'सार्वजनिक उद्योगों को जानबूझकर कमजोर किया जा रहा है। 'दो परिवारों के बीच दबा प्रधानमंत्री' लेख में प्रभाषजी का निष्कर्ष है कि 'अटलबिहारी वाजपेयी जिस सरकार के प्रधानमंत्री हैं, उसकी आर्थिक नीतियों ने मजदूरों, किसानों और स्वदेशी की भावना, उद्यम और उद्योग के खिलाफ नतीजे देने शुरू कर दिए हैं। कोई पांच लाख लघु उद्योग इकाइयां बंद हो गई हैं। निजीकरण के कारण सार्वजनिक उद्योगों में भी मजदूरों का भविष्य खतरे में है। वह ऐसी तकनीक को ला और प्रोत्साहन दे रही है, जो पूंजी केंद्रित है और हमारे देश में सबसे बड़ी समस्या बेरोजगारी की है। (पृ. 16)

ज्यादातर लेख तत्कालीन राजनीति से लदे और उसके प्रतिबिंब हैं। सावरकर, उमा भारती, अयोध्या, नरेंद्र मोदी किसी भी घटना के अंदर-बाहर हों, प्रभाषजी की कलम टूट पड़ती है तलवार बनकर। सावरकर को जीवित करके संघ संप्रदाय महात्मा गांधी को मिटाना चाहता है। वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का रहा हो या हिंदू महासभा का, नाथूराम गोडसे हिंदुत्ववादी था, इससे तो इंकार नहीं करेगा। देश ने और दुनिया ने न सावरकर को स्वीकार किया, न भारत के हिंदुओं ने हिंदुत्व को। धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य भारत में हिंदुत्व और सावरकर सर्वमान्य नहीं है, महात्मा गांधी हैं। संसार में अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाला साधनहीन मनुष्य गांधी से प्रेरणा पाता है। अत्याचार का सामना करता संसार का कोई भी इन्सान गांधी से करुणा पाता है। गांधी के नश्वर शरीर को तो एक हिंदुस्तानी ने मार दिया, लेकिन गांधी अवध्य है, उसकी कीर्ति और उसका पराक्रम दिनोंदिन फैल रहा है। सवाल उस गांधी का नहीं है, जो दो अक्टूबर को जन्मा था। (पृ. 186)

गुजरात की हिंसा के बाद हुए चुनावों में भाजपा की जीत पर प्रभाष जोशीजी लिखते हैं कि 'यह कहना अजीब लगेगा, लेकिन इसके बिना असली संकट को समझा नहीं जा सकता। गुजरात में जिस तरह हिंदुत्व जीता है, उससे लालकृष्ण आडवाणी आमतौर पर और अटलबिहारी वाजपेयी खासतौर पर चिंतित हो गए हैं। अगर गोधरा सांप्रदायिक आग से पूरे गुजरात को झुलसाया जा सकता है तो लोकतंत्र को भी ठिकाने लगाया जा सकता है। अटलजी और लालकृष्ण आडवाणी अपने हिंदुत्व के नए झंडाबरदारों को जानते हैं, इसलिए वे भी संयम और नरमाई बरतने को कह रहे हैं।'

उनके पाकिस्तान में जिन्ना पर दिए भाषण के संदर्भ में ऐसी ही कठोर टिप्पणी है। 'अब अमेरिकी हमें बताएंगे कि जिन्ना क्या थे' लेख में प्रभाषजी लिखते हैं, 'ऐसा नहीं कि लौहपुरुष लालकृष्ण आडवाणी ने अपने जंग को घिसकर लोहे को चमकाने और धार देने की कोशिश न की हो। गए साल भारतीय जनता पार्टी के तिबारा अध्यक्ष बनने के बाद से वे लगातार इस कोशिश में थे कि कैसे अपनी पार्टी को बदली हुई और निरंतर बदलती हुई परिस्थितियों की धारा में नए सिरे से उतारा जाए। वे समझ गए थे कि हिंदू पहचान यानी हिंदुत्व की राजनीति अब चलेगी नहीं, लेकिन भाजपा पर हिंदुत्व का जंग उन्हीं पर चढ़ाया हुआ था और खुद उन पर भी यह जंग उनकी किशोर अवस्था में चढ़ा और लगातार बढ़ता जा रहा था। वे जानते थे कि यह जंग उन्हें दिन-रात खा रहा है और वही उनके लोहे की जगह लेकर उनका स्वत्व बन गया है, लेकिन अपना और अपनी पार्टी का कायाकल्प किए बिना उसका कोई भविष्य नहीं बनाया जा सकता था। दो बार वे पार्टी को नए अवतार में ला चुके थे। सबको उम्मीद थी और खुद भी चाहते थे कि भाजपा का तीसरा अवतार किया जाए।

पांच सौ पृष्ठों की पुस्तक में कम-से-कम 400 पृष्ठों में तो हिंदुत्ववादी राजनीति के खिलाफ प्रभाषजी ने लिखा ही है, लेकिन ऐसा नहीं कि उनके कलम की वह धार 2004 में यूपीए सरकार आने के बाद मद्धिम पड़ गई हो। मनमोहन सिंह के उदारीकरण की रफ्तार और तेज होती जा रही है। वे सिर्फ आर्थिक नीतियां ही नहीं बदलना चाह रहे थे, बल्कि भाषाई, सांस्कृतिक नीतियों को भी बदलने के लिए आमादा थे। प्रभाषजी ने बड़े तीखे शीर्षक 'मगर सैम पित्रोदा को शर्म कहां जाती है' में खबर ली है। सैम पित्रोदा ने मुंबई के प्रवासी भारतीय सम्मेलन में प्रश्नोत्तर के दौरान कहा कि मैं उस वक्ता के लिए माफी मांगता हूं, जो हिंदी में बोले (आई अपॉलजाइस फॉर ए प्रिवियस स्पीकर टू स्पोक इन हिंदी) यह सचमुच अनहोनी और बेहद अपमानजनक माफी है। सम्मेलन भारत सरकार के प्रवासी मामलों के मंत्रालय ने बुलाया था। सम्मेलन प्रवासी भारतीयों का था। भारत की राजभाषा हिंदी है। स्वतंत्रता संग्राम की वह राष्ट्रभाषा रही है। सम्मेलन, उस मुंबई में हो रहा था, जहां से अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ भारत छोड़ो आंदोलन की शुरुआत हुई थी। भारत में होते प्रवासी भारतीयों के सम्मेलन में एक निमंत्रित वक्ता के हिंदी में बोलने की माफी मांगी जाए तो यह तो अंग्रेजी साम्राज्यवादियों की सभा में भी निहायत गैरजरूरी होगा। फिर सैम पित्रोदा को यह माफी क्यों मांगनी पड़ी? उन्होंने क्यों माफी मांगी? क्या वे नहीं जानते कि हिंदी को अनौपचारिक रूप से राष्ट्रभाषा और औपचारिक संवैधानिक रूप से राजभाषा का दर्जा मिला हुआ है। (पृ. 423)

एक और लेख 'उठो ज्ञानी खेत संभालो' में भाषा के सवाल पर प्रभाषजी ललकारते हैं—भारत के नए पूंजीपतियों, व्यापारियों और मध्यमवर्ग के कुशल कारिंदों का अध्ययन करने वाले अर्थशास्त्री मित्र मुझे चेताते हैं कि भारतीय पूंजी दुनिया पर छा भी जाए तो ये अंग्रेजी और अमेरिका की जी हजूरी नहीं छोड़ेंगे। गांधी ने हिंद स्वराज में कोई यों ही नहीं कहा कि अंग्रेजों ने भारत को नहीं जीता। हमने खुद भारत उन्हें दे दिया है। वे तो सारी दुनिया को अपनी चीजों के विशाल बाजार में बदल देना चाहते हैं। सच है कि वे ऐसा नहीं कर सकते, लेकिन इसमें दोष उनका नहीं है।

'आगे अंधी गली है' में वे लेख शामिल हैं, जो प्रभाष जोशी ने अपनी मृत्यु से दो वर्ष पूर्व (2007-2009) लिखे थे। ये लेख नियमित रूप से 'प्रथम प्रवक्ता' के कॉलम 'लाग-लपेट' और 'तहलका' के शून्यकाल में छपे हैं। यह पुस्तक न आई होती तो मेरे जैसे बहुत-से पाठकों को जो जनसत्ता और प्रभाष जोशी को एक-दूसरे का पर्याय मानते थे, उन्हें इसका पता ही नहीं चलता। संपादक सुरेश शर्मा की बात सही है कि कागद-कारे में प्रभाषजी ने अपनी संवेदना के आधार पर समय को

परिभाषित किया है, जबकि लाग-लपेट और शून्यकाल में अपने गांधीवादी विचारों और तर्कों से समकालीन परिदृश्य को। हालांकि दोनों पुस्तकों में संकलित लेखों की भाव-भूमि में कोई अंतर नहीं है, लेकिन जहां कागद-कारे के लेख लगभग राजनीतिक हैं, वहीं इस पुस्तक के लेख उनकी चिंताओं की विविधता को ज्यादा बेहतर सामने लाते हैं। संपादक सुरेश शर्मा द्वारा लिखित संपादकीय 'प्रभाष जोशी, जिंदगी के आखिरी छह दिन' में प्रभाषजी के व्यक्तित्व के कई अनछुए पहलू बहुत आत्मीय संवेदना से सामने आए हैं।

16 जून, 2009 को लिखे अपने एक लेख में उन्होंने नेहरू और मनमोहन सिंह की कार्यप्रणाली की तुलना संक्षेप में की है। पाठकों को याद दिला दें कि 2009 में मनमोहन सिंह पांच साल के पूरे कार्यकाल के बाद दोबारा प्रधानमंत्री चुने गए। प्रभाषजी लिखते हैं 'प्रधानमंत्री के शपथ लेते ही नेहरू ने कहा था कि अब मैं जनता का प्रथम सेवक हुआ। वे किसी के बिठाए प्रधानमंत्री के पद पर नहीं बैठे और न कांग्रेस पार्टी उनकी हैसियत को घटा-बढ़ा सकी थी। वे पार्टी और प्रधानमंत्री पद; दोनों से ही ऊपर थे। मनमोहन सिंह ने एक कार्यकाल पूरा किया है, सिवाय इसके जवाहरलाल नेहरू से उनकी कोई समानता नहीं की जा सकती। मनमोहन सिंह सच्चे हैं, ईमानदार हैं, गैर-राजनीतिक हैं और भले आदमी हैं। उनके चलते प्रधानमंत्री का पद अराजनीतिक और नौकरशाही का विस्तार हो गया। सोनिया गांधी और अमेरिका को ऐसा ही आदमी चाहिए। ठीक है भाई रखो, पर उसे नेहरू से क्यों जोड़ते हो।' (पृ. 163)

इस निष्कर्ष के अंतिम शब्दों में प्रभाषजी के दर्द, कराह, हादसा या ऐसी तुलना के पीछे की चेतावनी समझी जा सकती है।

भाषा के बेजोड़ जादूगर हैं प्रभाष जोशी। जनसत्ता जिस बात के लिए जाना गया, वह था उसकी भाषा के तेवर। और निश्चित रूप से उस तेवर का स्रोत स्वयं संपादक प्रभाष जोशी ही थे। व्यक्तित्व की भी सच्चाई और भाषा की भी। सबकी खबर ले, सबकी खबर दे, न केवल जनसत्ता, बल्कि उनके पूरे व्यक्तित्व से झांकता था। देहाती, देशज शब्दों को चुन-चुनकर जितने विश्वास और

स्वाभाविकता से प्रभाषजी अपने लेखन में उपयोग करते हैं, वैसा हिंदी का कोई रचनाकार नहीं कर पाया। राजेंद्र यादव को अंग्रेजी शब्दों के सटीक इस्तेमाल की महारत तो हासिल है, किंतु आंचलिक बोली-भाषा की नहीं। प्रभाषजी यहां बाजी मार ले जाते हैं तो इसलिए कि विभिन्न गांधीवादी, सर्वोदयी, पत्रकारी जीवन में जितना वे देश भर में घूमे, विभिन्न आंदोलनों में शामिल रहे, उतने राजेंद्र यादव नहीं रहे। प्रभाषजी की भाषा में पूरे देश की धड़कन गूंजती है।

मंडल के मसीहा वी.पी. सिंह पर भी एक लेख इस खंड में शामिल है। इस पूरे लेख में उन्होंने वी.पी. सिंह के कदम को तर्कसंगत सिद्ध करने की कोशिश की है। बहुत कम लोग जानते हैं कि सूचना के अधिकार को जन-जन तक पहुंचाने में अरुणा राय, निखिल डे, शंकर सिंह के साथ-साथ प्रभाष जोशी का भी नाम लिया जाता है। यह बात प्रभाष जोशी की मृत्यु पर हुई शोकसभा में स्वयं अरुणा राय ने कही थी। सूचना का अधिकार कानून बनने से पहले देश भर की सैकड़ों सभाओं में उन्होंने भाग लिया और हर बार उसकी जरूरत और उद्देश्य को जनता और सरकार के सामने रखा। आजादी के बाद बनने वाला लोकतंत्र का शायद सबसे अच्छा कानून। 'कानून बनने के बाद भी उनकी कोशिशें उसे और बेहतर बनाने की जारी रही। उनका कहना था कानून पर अमल करने के लिए जो सूचना आयोग बनाया गया है, वह न सिर्फ रिटायर नौकरशाही के हवाले कर दिया गया है, इसकी पूरी सांस्थानिक व्यवस्था की गई है कि आयोग का रवैया, सरकार, पुलिस और अदालत से भी ज्यादा समय बरबाद करने और लोगों को निरुत्साहित करने वाला हो। जब तक आयोग का गैर सरकारीकरण नहीं किया जाएगा और उसे लोक भावना से काम करने के लिए उसमें लोकहित में काम करने वाले लोकसेवक नहीं रखे जाएंगे, तब तक वह लोक विश्वास जाग्रत और प्राप्त नहीं कर सकेगा।' (पृ. 159)

वैसे तो जे.पी. आंदोलन से लेकर 30-40 वर्षों का कोई ऐसा जनोन्मुखी आंदोलन नहीं रहा, जिसमें प्रभाष जोशी की भागीदारी नहीं रही हो। सूचना के अधिकार के अलावा पिछले दो वर्षों में उन्होंने मीडिया में बढ़ते भ्रष्टाचार के खिलाफ अपने लेखों से जनजागरण पैदा किया, अपनी उस पत्रकार बिरादरी के खिलाफ, जो विज्ञापन या पैसा लेकर खबरें छापते हैं। बहुत गुस्से में थे प्रभाष जोशी, प्रेस तथा मीडिया की इस भूमिका को लेकर। हर मंच से, हर अखबार में उन्होंने चेतावनी देते हुए लिखा कि यह लोकतंत्र के लिए मीडिया का सबसे बड़ा विश्वासघात है। उन्होंने इसे जनता के साथ धोखाधड़ी बताया और कहा कि पत्रकारिता ने अपना धर्म पूरा नहीं किया। लोकतंत्र की रक्षक प्रेस ने ही पूरे चुनाव-लोकतंत्र को झूठा बना दिया, यानी इस बार अखबार ने पत्रकारिता का अपना धर्म पूरा नहीं किया। सब उम्मीदवारों का प्रचार खबरें बनाकर ऐसे छापा, जैसे वे अखबार न होकर प्रिंटिंग प्रेस के बुलेटिन हों। चुनाव की जो भी खबरें आपने पढ़ीं, सब झूठी थीं। लोकतंत्र की रक्षक प्रेस ने ही उसे झूठा बना दिया है। (पृ. 159)

भारतीय प्रेस को और हिंदी पत्रकारिता को ऐसे योद्धा पर सचमुच फख्र रहेगा। कोई खूब लिखे, और अच्छा भी और सामाजिक सक्रियता का दायित्व भी पूरी यारना स्फूर्ति से निभाए, प्रभाष जोशी इसकी अनोखी मिसाल हैं।

21वीं सदी : पहला दशक/आगे अंधी गली है/प्रभाष जोशी/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य क्रमशः ₹ 550 एवं ₹ 350

96, कला विहार अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-91, फोन : 22744596, 23387362

स्त्री की बजबजाती त्रासदी का बयान

निर्भय कुमार मिश्र

जनसंख्या वृद्धि एक विकट समस्या है, जो तमाम भौतिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं के बीज रूप में है। यह हमारी भौतिक प्रगति व मानसिक शांति की राह में सबसे बड़ा रोड़ा है, जो लोकतंत्र को भीड़तंत्र में बदलकर मनुष्य को व्यक्तित्वहीन बना देता है। जनसंख्या समस्या का यह अद्यतन विश्लेषण रहा है, परंतु गहन-विमर्श से इस समस्या के कई अन्य आयाम भी खुलते हैं, जो इस विमर्श की प्रचलित सीमाओं का अतिक्रमण कर वहां तक पहुंचते हैं, जिस पर अब तक विचारकों की दृष्टि नहीं गई थी। डा. रवींद्र कुमार पाठक की सद्यः प्रकाशित विचारोत्तेजक पुस्तक—'जनसंख्या समस्या के स्त्री पाठ के रास्ते...'में जनसंख्या समस्या के सर्वथा नवीन पाठ की संभावना खुलती है।

देश में वर्ष 2011 की जनगणना प्रक्रिया शुरू हो चुकी है, साथ ही यह वर्ष अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस का शताब्दी वर्ष भी है और गर्भनिरोधक गोलियों के आविष्कार के भी पचास साल पूरे हो चुके हैं; अतः इस पुस्तक का प्रकाशन प्रासंगिक महत्त्व भी रखता है। आज तक जनसंख्या-वृद्धि को मात्र आर्थिक-भौतिक समस्या मानने का जो भटका हुआ और अधूरा विमर्श चलता रहा है, उसे खारिज करते हुए लेखक ने इसे प्रधानतः स्त्री समस्या माना है, जिसकी जड़ पितृसत्तात्मक संरचना में निहित है। जनाधिक्य और स्त्री सशक्तीकरण के बीच का संबंध व्युत्क्रमानुपाती है, लेखक की यह स्थापना इस पुस्तक की वैचारिकी का प्रस्थान बिंदु है।

प्रस्तुत पुस्तक सात अध्यायों में विभक्त है—(i) विषय प्रवेश (ii) जनसंख्या नीति : स्त्री पीड़ा निरपेक्ष और मूढ़...पितृसत्तावादी, (iii) मां बनाने की सांस्कृतिक मर्दानगी से संत्रस्त स्त्री, (iv) संस्कृति का बेटावादी ज़हर : स्त्री की कोख व जान पर कहर, (v) जनाधिक्य संकट में स्त्री समस्या के समय पाठ की संभावना, (vi) यानी, प्रचलित पाठ का पोथा : स्त्री की निगाह में थोथा (vii) उपचार का यंत्र-स्त्री केंद्रित ढांचे का लोकतंत्र। पुनः इन अध्यायों को कई उपशीर्षकों में भी बांटा गया है।

पहले दो अध्यायों में (भारतीय) जनसंख्या नीति के पितृ-सत्तात्मक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए, जनवृद्धि के उत्तरदायी कारणों की थाह लेते हुए जनसंख्या नियोजन के स्त्री-विरोध स्वरूप की आलोचना की गई है।

तीसरे अध्याय में 'मातृत्व' की अवधारणा और उसके महिमा-मंडन के पीछे निहित पुरुषवादी अहं एवं स्वार्थ पर चोट की गई है। पितृसत्ता ने अपनी गढ़ी हुई 'आइडियोलॉजी' के तहत स्त्री को संततिजनन और उससे भी बढ़कर मात्र पुत्र जनन की मशीन भर बना दिया है और उसके मन में यह विचार बैठाने

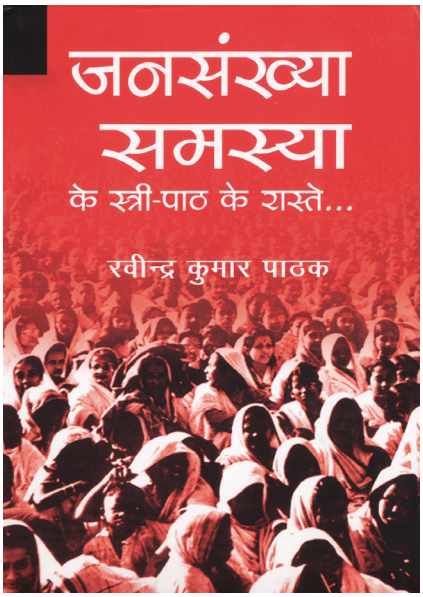

में भी कामयाब रही है कि वह मां बने बिना अधूरी है, जबकि सच्चाई सिर्फ इतनी है कि स्त्री के मातृत्व की क्षमता प्राकृतिक है, मां बनने की इच्छा नहीं, वह तो शत-प्रतिशत सांस्कृतिक है। पुराणों, स्मृतियों और उपनिषदों ने भी स्त्री को 'सेक्स ऑब्जेक्ट' और 'प्रोडक्शन फैक्टरी' से अधिक कुछ नहीं माना है, पुस्तक अपने अनेक उद्धरणों के साथ यह बात प्रमाणित करती है। थोपे हुए 'मातृत्व' ने स्त्रियों के स्वास्थ्य एवं कैरियर को किस कदर चौपट किया है और इसके बदले उन्हें उनकी संतान पर अभिभावकत्व तक नहीं लेने दिया गया, इस त्रासदी को यह पुस्तक पढ़कर ही भलीभांति समझा जा सकता है।

स्त्री-स्वास्थ्य के प्रति समाज की अनदेखी को लेखक ने आंकड़ों की भाषा में बताया है कि भारत में जहां प्रति लाख 540 स्त्रियां प्रसव मौत की शिकार होती हैं, वहीं स्वीडन में मात्र दो; तो स्पष्ट है यह मौत प्राकृतिक नहीं है। निश्चय ही इसके पीछे सामाजिक दृष्टि काम करती है। स्त्री के प्रति व्याप्त लैंगिक भेदभाव उस क्षेत्र में चिकित्सा सेवाओं के विकास एवं विस्तार को भी प्रभावित करता है। मां बनाए जाने की प्रक्रिया कितनी स्त्री-विरोधी है, यह लेखक द्वारा प्रस्तुत स्त्री के संदर्भ में घटित इस क्रमिक शृंखलाबद्ध प्रक्रिया से महसूस किया जा सकता है—यौन शोषण>यौन रोग व गर्भ से लदना>स्वास्थ्य डांवाडोल होना एवं व्यक्तित्व निर्माण के क्षेत्र में पिछड़ना>प्रसव यंत्रणा (कभी-कभी मौत भी)>प्रसव में देह ढलना>बाद में दीर्घकाल तक स्वास्थ्य समस्याएं>4-5 वर्ष तक शिशु के लालन-पालन में स्वयं को घुलाने को बाध्य बनकर शिक्षा, कैरियर या सामाजिक अस्तित्व से वंचित हो जाना।

संस्कृति में विद्यमान स्त्री की छवि की

प्रक्रिया के पीछे वह 'दर्शन' भी जिम्मेदार है, जो प्रजनन के लिए स्त्री व पुरुष की भूमिका को क्रमशः 'बीज व खेत' के रूपक से स्पष्ट करते हुए संतान की निर्मिति में स्त्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका को हाशिये पर डाल देता है। स्त्री को खेत और पुरुष को बीजदाता (किसान) मानने वाला यह दर्शन फसल (संतान) पर बीज के मालिक (पुरुष) के निर्बाध हक का हिमायती है। बीज खेत के इसी रूपक ने जेंडर-भेद को अनेक प्रकार से मजबूती दी है।

इसने स्त्री को व्यक्ति की जगह जड़ खेत भर ठहरा दिया है और फिर उस खेत को खरीद-फरोख्त, दान या छीना-झपटी की चीज भर बनाकर छोड़ दिया। फसल (संतान) और खेत (स्त्री) दोनों ही पुरुष के कब्जे में आ गए; जबकि विज्ञान ने बहुत पहले इस रूपक को सिरे से खारिज ही नहीं कर दिया है, बल्कि संततिजनन में स्त्री के अंडाणु के सामने पुरुष के शुक्राणु की हैसियत को भी अब खोलकर रख रहा है। इस पर पूरी चर्चा तो पुस्तक ही बता सकती है, पर संक्षेप में वह कुछ यों है कि संततिजनन में अंडाणु का कोई विकल्प नहीं है, जबकि शुक्राणु के बहुविध विकल्प अब तक परीक्षित हो चुके हैं, क्लोनिकंग आदि के द्वारा। कुल मिलाकर वैज्ञानिक खोजों की दिशा 'बीज-क्षेत्र रूपक' की धज्जियां तो उड़ा ही चुकी है, अब तो पुरुष-बीजांश की अत्यंत सीमित रही भूमिका को भी नकार रही है, जिससे बेटी से वंश चलने की नूतन अवधारणा को ही बल मिलता है।

चौथे अध्याय में गणितीय और सांस्कृतिक आंकड़ों के जरिए पितृसत्ता के बेटावादी मोह एवं कन्या हत्यारी प्रवृत्ति की परंपरा की पड़ताल की गई है। 'यूनिसेफ' की रिपोर्ट के हवाले से सन् 1995 ई. तक 4-5 करोड़ स्त्री-आबादी के गायब रहने की सूचना लेखक ने उद्धृत की है। पुत्र-प्राप्ति हेतु धर्मशास्त्र में वर्णित पुत्रांध सूक्तियों, पुनर्विवाह और नियोग आदि की घिनौनी एवं तिकड़मी प्रथाओं के पीछे की मर्दवादी चालबाजियों एवं धर्मशास्त्रों के स्त्री-विरोध चरित्र को लेखक ने बड़ी तीक्ष्णता से उधेड़ा है। पुरुष के द्वारा लगातार थोपी जा रही पुत्रांध हवस स्त्री के लिए घोर अमानुषिक यातना है। गर्भभार से लदी स्त्री का संत्रास महसूस कराने के लिए इस पुस्तक ने कई उद्धरण भी पेश किए हैं जैसे—'इजाडोरा डंकन की आत्मकथा' और शरद देवड़ा के 'प्रेमी-प्रेमिका संवाद' उपन्यास।

'काश! संस्कृति के सौदागर मर्द नेताओं को एक बार भी मां बनने के अनुभव से गुजरना पड़ता तो स्त्री के लिए 'मातृत्व' को चरम मूल्य घोषित करते वे सहमते।' लेखक के इस कथन ने 'मातृत्व' की अवधारणा में निहित स्त्री-दलन को बड़ी संवेदना से उकेरा है। उपर्युक्त गर्भानुभूति की यातना स्त्रियों को अपने जीवन में बार-बार भोगनी पड़ती है। पितृसत्ता ने उसकी यही नियति बना दी है। वे इसे बेटे जनने के लिए जय-जयकार के साथ झेलें या बेटी जनने की प्रताड़ना के साथ; झेलना तो है ही। यदि मर्दजाति उस गर्भ (धारण, प्रसव, पालन) पीड़ा को महसूसती या कम-से-कम उससे निरपेक्ष न होती तो कोई हर्षातिरेक में अपनी पुत्री को 'पुत्रवती भव' या 'दूधो नहाओ पूतो फलों' के आशीर्वाद देने के पहले एक हजार बार सोचता कि वह अपने प्रियपात्र को कितना त्रासद आशीर्वाद दे रहा है।

इन असामाजिक, अधार्मिक एवं अमानवीय परिस्थितियों को अनदेखा कर जनसंख्या विमर्श को मुकम्मल नहीं किया जा सकता। गर्भ में एवं जन्मोपरांत जेंडर आधारित भेदभाव के कारण मौत की भेंट चढ़ती स्त्री आबादी लिंगानुपात के भयानक असंतुलन को जन्म दे रही है। सन् 1901 में भारत का लिंगानुपात 972 था, जो 1991 ई. में 927 हो गया। 2001 ई. में केरल (1058) राज्यवार सूची में प्रथम स्थान है, जबकि हरियाणा (861) निम्नतम है। बाल-लिंगानुपात (0-6 वर्षीय) जो एक तरह से स्त्री के प्रति समाज के रवैये का मूलभूत दिग्दर्शक कहा जा सकता है, में पंजाब (798) हरियाणा (819) की स्थिति सर्वाधिक विस्फोटक है। ये आंकड़े मानव सभ्यता के सामने एक विकट सवाल खड़ा करते हैं।

स्त्री जनसंख्या घटने से 'स्त्रियों के महत्त्व में वृद्धि होगी' या 'उन्हीं को दहेज मिलने लगेगा'; जैसे भ्रमों को खारिज करते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि इससे स्त्रियां और गहरे शोषण चक्र में फंसेगी और खुलेआम उनकी खरीद-बिक्री, नोंच-खसोट शुरू हो जाएगी।

अंतिम अध्याय में जनसंख्या नियोजन नीति को सूत्र-सार रूप में स्त्री सशक्तीकरण (व्यक्तित्व प्राप्ति) से संबद्ध किया गया है। जनसंख्या निवारण/नियोजन के लिए लेखक ने जनसंख्या-विमर्श को स्त्री केंद्रित बनाने, पितृसत्तात्मक संरचनाओं का अवसान करने एवं संख्या, गुणवत्ता व ताकत में स्त्री को पुरुष के समान बनाने पर बल दिया है। गर्भपात को परिवार नियोजन का एक तरीका मानने की जगह, स्त्री की देह-स्वतंत्रता के एक अंग के रूप में इसकी स्वीकृति काम्य है। पुस्तक की राय में परिवार-नियोजन हेतु पुरुष नसबंदी अनिवार्य किया जाना एक ठोस कदम होगा, जबकि व्यक्तित्व-दलन की समस्या को देखते हुए अनेक कारणों (जैसे—स्त्री के व्यक्तित्व रक्षा की चिंता) से स्त्री नसबंदी को ऐच्छिक ही बनाए रखने का सुझाव पुस्तक देती है। स्त्री के लिए देह-मुक्ति या प्रजनन शक्ति का अधिकार सुनिश्चित करने, मातृत्व, गृहणीत्व एवं मर्दानगी के मिथ का उच्छेद करने तथा लिंगभेद का पोषण करने वाले प्रतीकों, पर्वों पर पाबंदी, कन्या-भ्रूण हत्या पर कड़ाई से रोक, विवाह-संस्था में आमूल-चूल परिवर्तन, बाल एवं अनमेल विवाह पर रोक, वेश्यातंत्र का खात्मा, लिव-इन-रिलेशनशिप को कानूनी सुरक्षा एवं विभिन्न सरकारी एवं वैधानिक संस्थानों में स्त्री आरक्षण लागू करने पर बल दिया गया है। पितृसत्ता के अवसान के साथ ही स्त्री-केंद्रित लोकतंत्र की स्थापना होगी और इस समस्या का स्थायी समाधान भी निकलेगा, यह लेखक का विश्वास है।

सारांशतः जनाधिक्य के सवालों से टकराती यह पुस्तक अपने कथ्य, शिल्प एवं प्रासंगिकता में बेजोड़ है। यह शोधपरक कृति हमें उन सच्चाइयों से रू-ब-रू कराती है, जिनसे अब तक हम या तो अनजान रहे हैं या मुंह चुराते रहे हैं। पुस्तक में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रति जितना गहरा आक्रोश व्यक्त हुआ है, स्त्रियों के शोषण का उतना ही मार्मिक चित्रण भी है। लेखक में हालात के प्रति क्षोभ है, तो एक सुलझी हुई समझ के साथ इन्हें बदल देने की छटपटाहट भी है।

जनसंख्या—समस्या के स्त्री पाठ के रास्ते/डॉ. रवींद्र कुमार पाठक/राधाकृष्ण प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 300

दानीविगहा, पो.-जि. औरंगाबाद (बिहार)-824101, मो. 09431041433, 08051567469

सत्ता एवं समाज की नब्ज पर उंगली

राजीव कुमार

राजकिशोर प्रसिद्ध पत्रकार एवं स्तंभ लेखक हैं। उनकी लेखनी अपने समय-समाज पर उनकी मजबूत पकड़ को दर्शाती है। वे हमेशा उन मुद्दों को उठाते रहे हैं, जो व्यापक सरोकार के होते हैं। समकालीन गतिविधियों पर उनकी पैनी नजर रहती है। 'अंधेरे में हँसी' उनकी व्यंग्य रचनाओं का संग्रह है। संग्रह के व्यंग्य मुख्य रूप से समकालीन मुद्दों पर केंद्रित हैं, लेकिन इस समकालीनता का दायरा व्यापक है। स्त्री-प्रश्न, सांप्रदायिकता, ग्लोबलाइजेशन, वामपंथी राजनीति, दलित राजनीति जैसे अनेकानेक मुद्दे इस पुस्तक के रडार पर है। व्यंग्य का यह खास गुण होता है कि वह लंबे-चौड़े विश्लेषण के विपरीत सीमित शब्दों में चीजों को इस प्रकार रखता है कि एक हल्की चुभन के साथ विडंबना को स्पष्ट कर देता है। जो बात लंबे-चौड़े लेखन में कई सफे रंगकर नहीं कही जा सकती, उसे व्यंग्य कुछ शब्दों में उजागर कर देता है। विषय में निहित 'आइरनी' की पहचान और अभिव्यक्ति में 'विट' वहां महत्त्वपूर्ण होता है। व्यंगय विडंबना को उजागर ही नहीं करता, बल्कि धत्-प्रवृत्तियों का शोर मचाए बिना प्रतिरोधी होता है। राजकिशोर के इस व्यंग्य-संग्रह—'अंधेरे में हँसी' में ये विशिष्टताएं विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है।

विश्व परिप्रेक्ष्य में, खासकर पड़ोसी देशों से तुलना करने पर हम पाते हैं कि हमारा लोकतंत्र 'रन' कर रहा है। हमारे राजनेता, विश्लेषक आवेशपूर्ण उत्साह के साथ इसका दृष्टांत देते हैं तथा आजादी के बाद की इसकी उम्र की संख्या तथा इस देश की जनसंख्या जैसे कि वह भी कोई उपलब्धि हो, के संदर्भ से इसे महान सिद्ध करते रहते हैं, लेकिन वास्तविकता के धरातल पर इसकी क्या गति है, वह हमारे सामने है। राजकिशोर इस पुस्तक के एक लेख—'बच्चे झूठ नहीं बोलते' में एक स्कूल की अराजकता का जिक्र करते हुए भारतीय लोकतंत्र की वास्तविकता पर कटाक्ष करते हैं—''...नया हेडमास्टर आ जाता, तब भी उससे कौन डरता था? इस स्कूल में कई-कई महीने नहीं आने वाले शिक्षकों ने भी कभी छुट्टी के लिए आवेदन नहीं किया था। इसकी कोई परंपरा ही नहीं थी। बच्चे भी जब चाहते, छुट्टी कर लेते थे। उनसे पूछने वाला कोई नहीं था। स्कूल क्या था, भारतीय लोकतंत्र की पाठशाला था।'' हेडमास्टर की स्थिति, बच्चे एवं छात्र का मनमानापन कहीं-न-कहीं आज के 'नेतृत्व' का रूपक बन गया है। 'क्योंकि लोगों ने' शीर्षक रचना में इस विडंबना की ओर ध्यान खींचा गया है कि इस लोकतंत्र

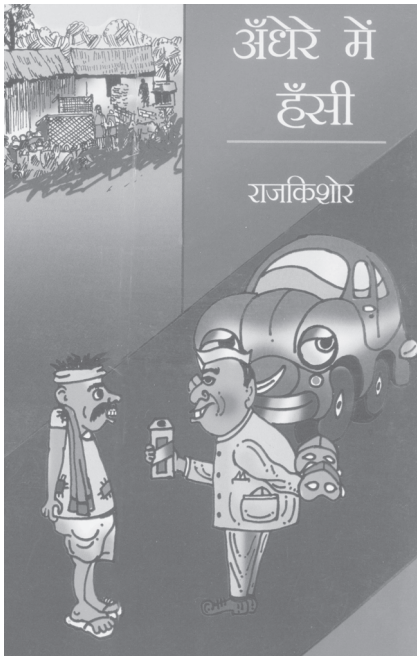

के भीतर डिक्टेटर प्रवृत्ति के नेता कुछ लोक-लुभावन कार्य कर लोकप्रिय बन जाते हैं। इस विडंबना पर नजर डालते हुए राजकिशोर इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि ये डिक्टेटर इसलिए अपनी छवि से चकमा देने में सफल रहते हैं, ''क्योंकि लोगों ने असली डेमोक्रेट देखा नहीं है।'' 'मेरा सांसद' में आज के लोकतंत्र की यथार्थ समस्या की ओर ध्यान खींचते हैं, साथ ही सामाजिक व्यवस्था पर भी टिप्पणी करते हैं, ''...लोकतंत्र की समस्या ही यह हो गई है कि चुनाव अच्छे और बेहतर के बीच नहीं, बद और बदतर के बीच करना होता है। शायद यह समस्या बुनियादी किस्म की है, क्योंकि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी हमें इसी तरह का चुनाव करना होता है।''

कहने को लोकतंत्र में सारी शक्ति जनता में निहित है, लेकिन कम-से-कम अपने यहां वास्तविकता इसके विपरीत है। असली सुख सत्ता वर्ग भोगते हैं। आम लोग इस तंत्र के आगे बेबस है। जनता के पक्ष में सृजित संवैधानिक उपचार माखौल बनकर रह गया है तो सत्ता वर्ग के अतिचार को रोकने के लिए जो कानूनी प्रावधान बनाया गया है, वह इतना उलझाऊ है कि शायद ही कभी अंजाम तक पहुंचता है। 'चिट्ठी आई है' में राजकिशोर इसे सामने लाते हैं। ग्राम सभा की जमीन पर मुखिया ने कब्जा कर लिया है। जब इसकी शिकायत की जाती है तो शासन की ओर से जो जवाब आता है, वह इस प्रकार है—''...दी हुई परिस्थितियों में आपसे अनुरोध है कि कृपया इस मामले को ग्राम सभा की अगली बैठक में उठाएं और ग्राम सभा में मुखिया के विरुद्ध प्रस्ताव पारित कर पंचायती राज विभाग को भेजें। कृपया सुनिश्चित करें कि उस

प्रस्ताव की तीन फोटो प्रतियां भी आवेदन के साथ संलग्न हों और ये फोटो प्रतियां पंचायत के मुखिया द्वारा अभिप्रमाणित की गई हों।'' जिसके विरुद्ध शिकायत है, उसी के द्वारा अभिप्रमाणित होने के बाद आवेदन वैध हो सकता है, यह अपने आपमें शासन की कार्य-प्रणाली को साबित कर देता है। अफसरशाही किसी समस्या के समाधान की बजाय उसे लटकाने में विश्वास रखती है। दूसरे, तथाकथित बुद्धिजीवी, समाज के गण्यमान्यों एवं संस्थाओं का रवैया भी ऐसा ही होता है। 'दूसरी दिल्ली का फिक्र' में कॉमनवेल्थ खेल के दौरान कानून-व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त बनाने के लिए बैठक होती है, उसमें साहित्य-कला के प्रतिनिधि अपील के बदले फैलोशिप चाहते हैं। अन्य लोगों में किसी को भी दूसरे का प्रस्ताव माकूल नहीं लगता और अंत में फिर सरकारी नौकरशाही शैली का फैसला होता है, ''...इसके बाद वही हुआ, जो अब तक होता आया था। बैठक ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित किया कि इस समस्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने और प्रासंगिक सिफारिशें देने के लिए उच्च शक्ति संपन्न कार्य बल का गठन किया जाए।''

'अंधेरे में हँसी' व्यंग्य-संग्रह में आज की राजनीति एवं राजनीतिज्ञों के चरित्र की खूब खबर ली गई है। भारत मे गरीबी के नाम पर चलने वाली राजनीति पर कटाक्ष करते हुए रचनाकार लिखता है, ''...गरीबों की सेवा में कितने लोग लगेंगे? वामपंथी सत्तर-अस्सी साल से इसी में लगे हुए हैं। कुछ दिन तक इंदिरा गांधी भी इसमें लगी रही। मुलायम सिंह और लालू का तो जन्म ही गरीबों की सेवा के लिए हुआ है।...'' इन दिनों दलित राजनीति अपने उत्थान पर है, पर प्रश्न है कि आज जिस रूप में इसे अंजाम दिया जा रहा है, क्या इससे वास्तविक लोगों तक लाभ पहुंच रहा है। 'एक दलित की डायरी' में लेखक ने राजनीति में आए नए फैशन—दलित के यहां एकाध रात के प्रवास पर कटाक्ष किया है तो 'पार्क में अंबेडकर' में दलित नेताओं के सत्ता-सुख पर क्षोभ व्यक्त किया गया है, ''...भेड़ों की पीठ पर चढ़कर एक भेड़ ने आसमान छू लिया, तो इससे नीचे की भेड़ों को क्या मिला? उन पर तो नेता का बोझ ही बढ़ा। यह बोझ वे कब तक उठाते रहेंगे?'' कुछ इसी

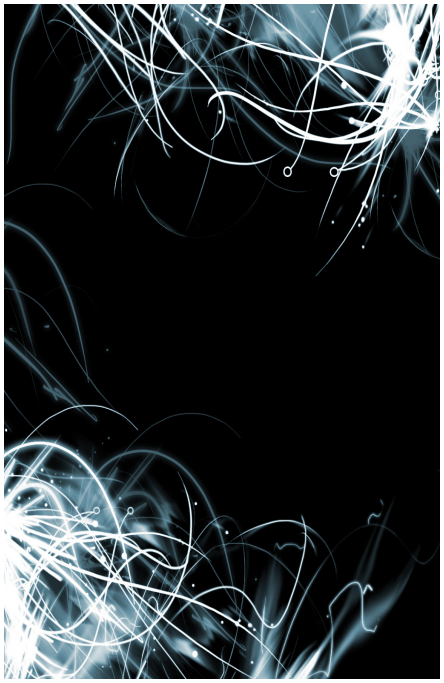

तरह की पीड़ा 'अंबेडकर के आंसू' में भी है।

हाल के दिनों में वामपंथी शासन-प्रणाली में आए विघटन को लेकर तीखे प्रश्न उत्पन्न हुए हैं। वाम राजनीति के वर्तमान विरोधाभास पर 'बुद्धदेव का इस्तीफा' में तीखा व्यंग्य किया गया है। राजकिशोर ने राजनीतिक-प्रशासनिक विषयों के साथ सामाजिक प्रवृत्तियों एवं रुझानों पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'वह आगे जाएगा' में संवेदनाविहीन अंतहीन दौर है।

इस व्यंग्य संग्रह में राजकिशोर सजग दृष्टि वाले राजनीतिक-सामाजिक आलोचक के रूप में सामने आते हैं। वे किसी प्रकार के दुराग्रह से बचते हैं। वे हिंदूवादी राजनीति की आलोचना करते हैं तो कम्युनिस्ट प्रशासन में आए विचारधारा से भटकाव को भी नहीं बख्शते। बौद्धिकों के छद्म तो विशेष रूप से आलोचना के केंद्र में हैं। संग्रह की भाषा सरल एवं संप्रेष्य है और अभिव्यक्ति आडंबररहित है। संग्रह में हमारे समय-समाज के रुझान की गहरी पकड़ है।

अंधेरे में हँसी/राजकिशोर/प्रकाशन संस्थान/4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 300

टी.टी.-36, रेलवे कॉलोनी, शाहदरा (रिजर्वेशन काउंटर के सामने), शाहदरा, दिल्ली-32 मो. 0965182789

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

मानवाधिकारों पर एक उल्लेखनीय कृति

जवाहर पांडेय

प्रसिद्ध साहित्यकार और समाजशास्त्री डॉ. सुभाष शर्मा की कृति 'भारत में मानवाधिकार' मानवाधिकार के व्यापक संदर्भों को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में गंभीरता से प्रस्तुत करने की कोशिश है। इसकी उपादेयता इस अर्थ में भी विशिष्ट है कि दुनिया के अधिकांश मानवतावादी चिंतकों की अवधारणाओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने और परखने की कोशिश भी की गई है तथा भारत में अपेक्षाकृत इस नई अवधारणा की दिशा और दशा को व्यापक आयामों में निरूपित करने का सफल एवं सार्थक श्रम किया गया है। इस अर्थ में यह एक गंभीर एवं लोकप्रिय कृति साथ-साथ है। भारत मानवाधिकारों के क्रियान्वयन के प्रति गंभीर ही नहीं, बल्कि शुरू से ही सदस्य देश होने के नाते बाध्य भी है, मगर कठिनाई यह है कि वर्तमान संदर्भ में इसके संपूर्ण क्रियान्वयन के पथ में अनेक रोड़े रहे हैं और इस दिशा में कार्यरत संस्थाओं एवं व्यक्तियों की परंपरागत सोच की कतिपय कमजोरियां भी हैं। तमाम प्रकार की अज्ञानता, कमजोरियां और आड़े आने वाली बाधाओं को समझकर अपनी-अपनी भूमिकाएं तय करनी होंगी, तभी हम समग्रतः इस व्यापक चुनौती का मुकाबला कर सकते हैं। मानवाधिकार की अवधारणा एक कल्याणकारी समाज और राज्य-निर्माण की परिकल्पना है, जिसमें व्यक्ति की गरिमा व मर्यादा और उसके जन्मजात अधिकार सुनिश्चित किए जा सकें। चुनौती यह भी है कि पश्चिमी देशों की तरह इसके क्रियान्वयन के प्रति हम जिम्मेवार अवश्य हैं, पर उसका हम केवल सतही अनुकरण नहीं कर सकते। अपने देश, काल और परिस्थितियों के आलोक में, अपनी आवश्यकता के अनुरूप नया मॉडल गढ़ने की कोशिश करनी होगी। उदाहरण के तौर पर, पश्चिमी व्यक्तिवाद की जगह भारत जैसे विकासशील देशों में व्यक्ति तथा समाज के बीच एक अंतर-निर्भरता वाला संतुलन बनाना होगा। सुभाष शर्मा ने भारत में मानवाधिकारों के लिए जो सोच और अवधारणा यहां निरूपित की है, वह इस आवश्यकता को ध्यान में ही रखकर की गई है।

निःसंदेह मानवाधिकार एक आधुनिक सोच है तथापि इसकी मूल भावना अनेक रूपों में दुनिया के अनेक देशों में मानव-विकास के आरंभिक चरणों से चली आ रही है। यहां लेखक ने इसके ऐतिहासिक स्रोतों की गंभीरता से शिनाख्त करते हुए आधुनिक मान्यताओं, इसके स्वरूपों और कानूनी समर्थनों को कृति में प्रस्तुत करते हुए पुस्तक की उपयोगिता सिद्ध की है। हर देश और इस क्षेत्र के मानवतावादी अध्येताओं के लिए यह अत्यंत ही उपयोगी है। बर्बर, जंगली, असभ्य और अमानवीय आचरण के विरुद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई के लिए मानवाधिकार एक आवश्यक हथियार है। आज की इस आधुनिक सोच और अवधारणा में जाति, लिंग, नस्ल, रंग, धर्म, संप्रदाय, भाषा आदि से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता को एक व्यापक आयाम दिया है, इसमें कोई संदेह नहीं। व्यापक संदर्भ में इसका श्रेय सन् 1789 ई. में हुई फ्रांस की क्रांति को दिया जाता है, किंतु आज दुनिया के तमाम सभ्य देश मानवाधिकार की अवधारणा के क्रियान्वयन के प्रति दृढ़ संकल्पित हैं। यह जरूरी भी है कि प्रत्येक मनुष्य इसके लिए वचनबद्ध हो। दुनिया के जो राज्य, संगठन और व्यक्ति इसके क्रियान्वयन के प्रति गंभीर हैं, उन सबों के लिए यह कृति आधार स्तंभ की तरह लगती है।

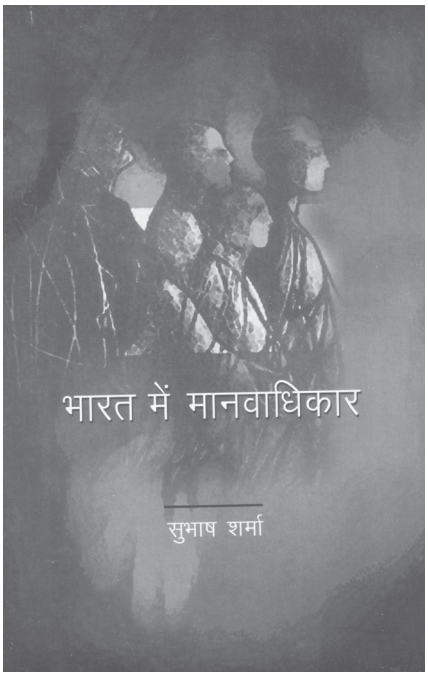

पुस्तक में भूमिका के अलावा तेरह अध्याय—मानवाधिकार : इतिहास के आईने में, मानवाधिकार : दृष्टियां एवं मुद्दे, बच्चों के मानवाधिकार, महिलाओं के मानवाधिकार, काम का अधिकार, भोजन का अधिकार, सूचना का अधिकार, स्वच्छ पर्यावरण का अधिकार, दलितों एवं अल्पसंख्यकों का मानवाधिकार, शांति का अधिकार, मानवाधिकार और भारतीय पुलिस का उत्पीड़न, बंधुआ मजदूरी प्रथा और मानवाधिकार, मानवाधिकार एवं कैदियों की दुर्दशा संज्ञाओं से विन्यस्त हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि मानवाधिकार का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। यह किसी भी राष्ट्र की राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति से गहरे संबद्ध है। इनमें किसी भी क्षेत्र में आने वाले असंतुलन का मतलब है मानवाधिकार का हनन और उपेक्षा। लेखक ने आलोचनात्मक दृष्टि से

अपने उद्देश्य का निर्धारण करते हुए यहां की सामाजिक भूमि और न्यायिक स्थितियों के बीच संतुलन का अभिज्ञान प्रस्तुत किया है। किसी भी समाज के लिए इसकी अनिवार्य शर्तों में एक यह है कि जन्मते ही हर व्यक्ति को मिलने वाला समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व का अधिकार। कई समाजों में भिन्न-भिन्न कारणों से हिंसक प्रवृत्ति पाई जाती है। कई कट्टरपंथी, रूढ़िवादी स्वाभावतः मानव विरोधी होते हैं। वहां इस अवधारणा के क्रियान्वयन की अलग कठिनाई है। बहुतेरे राज्यों के नायक बर्बर होते हैं, दमन करना उनकी प्रवृत्ति होती है। फासिस्ट नेताओं के अपने अलग तर्क होते हैं। इन तमाम मुद्दों के व्यापक अभिज्ञान के लिए पुस्तक की नियोजना की गई है।

पुस्तक का पहला अध्याय—'मानवाधिकार : इतिहास के आईने में' उन ऐतिहासिक स्रोतों की बारीक पहचान करता है, जो सैकड़ों वर्षों की टकराहटों से उत्पन्न मानवता की गाथा है। मानवतावादी राज्यों की परिस्थितियों ने जूझते हुए मानवाधिकार के लिए विमर्श की गाथा लिखी। इस क्रम में लेखक ने स्पष्टता से स्वीकार किया है कि भारत में भले ही वैदिक युग ने कुछ मानवाधिकारों को मान्यता दी थी, किंतु इसके आधुनिक और न्यायिक स्वरूप का श्रेय पाश्चात्य जगत को है।

मानवाधिकार के क्रियान्वयन का श्रेय सन् 1215 में ब्रिटेन के सामंतों और तत्कालीन ब्रिटेन के राजा के बीच हुए उस समझौते को दिया जा सकता है, जिसे मैग्ना कार्टा अर्थात् ग्रेट चार्टर के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र के लिए यह एक ऐतिहासिक घटना थी। तब से लेकर आज तक इस दिशा में जितने प्रयत्न किए गए, उन सभी का लेखा-जोखा इस पुस्तक में उपलब्ध है। संघर्षों और विमर्शों का ही यह नतीजा है कि आज मानवाधिकार के क्षेत्र में हर तरफ एक क्रांतिकारी पहल दिखाई देती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत भारत सहित करीब 50 देशों ने अमेरिका के सेन फ्रांसिस्को नगर में 25 जून, 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ अधिकार पत्र पर हस्ताक्षर किए। यह समझौता एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक घटना थी। आगे चलकर 10 दिसंबर, 1049 को 'मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा' हुई और सभी सदस्य देशों ने अपनी सहमति और वचनबद्धता दुहराई। इस घोषणा में मानवाधिकारों के व्यापक उद्देश्य उभरकर सामने आए। इस घोषणा में प्रस्तावना से अलग 30 धाराएं हैं। आज कोई भी राष्ट्रनायक इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। कानूनी और नैतिक रूप से अपने-अपने देश में इसके क्रियान्वयन के प्रति वे जिम्मेदार हैं। इसी कारण मानवाधिकार की जड़ें आज ज्यादा मजबूत दिखाई दे रही हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रत्येक मानव को जाति, नस्ल, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, संप्रदाय आदि के आधार पर बिना भेद-भाव किए आधारभूत अधिकार प्राप्त हैं। मानवाधिकार का मतलब इसी के परिप्रेक्ष्य में अधिकारों की प्राप्ति सुनिश्चित की जानी है। इस पुस्तक में इसकी गंभीर व्याख्या प्रस्तुत की गई है। साथ ही लेखक ने पुस्तक में आद्योपांत भारतीय परिप्रेक्ष्य में इन अधिकारों की दशा और दिशा का सम्यक् आकलन भी प्रस्तुत किया है।

यहां दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि मानवाधिकार की अवधारणा को केवल कानूनी स्वरूप प्रदान कर लक्ष्य तक पहुंचना संभव नहीं है। इसके लिए राज्यों, संगठनों और व्यक्तियों को जागरूक बनाकर नैतिक जिम्मेवारी का अभिज्ञान अपेक्षित है। यही कारण है कि लेखक ने तमाम आंकड़ों को आधार बनाकर ज्ञान की सर्वसुलभता की मार्गदर्शिका तैयार की है। आज आतंकवाद, हिंसा, भ्रष्टाचार आदि अमानवीय कृत्य इस पथ के बड़े रोड़े हैं। भारत और ऐसे अनेक देश, जहां धार्मिक कट्टरता, सामंती सोच, सामाजिक रीति-रिवाज, अज्ञानता, अशिक्षा आदि मानवीयता के शत्रु हैं, एक बड़ी चुनौती है। ये सभी मनुष्य और मनुष्य के बीच भेद करते हैं तथा प्रकृति का भरपूर दोहन करते हैं। यह अकारण नहीं है कि लेखक ने इस पुस्तक में भारतीय समाज के अनेक अंतर्विरोधों की जांच-पड़ताल की है और अनेक विचारणीय मुद्दे खड़े किए हैं, जिनमें उल्लेखनीय हैं—महिलाओं, बच्चों, दलितों, अल्पसंख्यकों, बंधुआ मजदूरों और पुलिस की भूमिका। तथ्य है कि इस देश की सामाजिक स्थिति जातियों, धर्मों और संप्रदायों के आधार पर खड़ी की गई है। भेद-भाव की खाई गहरी है। अशिक्षा के कारण ज्ञान अंधेरे में गिरा तड़प रहा है। अस्तु इस कृति की भूमिका इस संदर्भ में अहम है।

गरीबी के कारण अनेक सामाजिक क्रिया व्यापार जीवन की रीति-नीति के हिस्से बन गए हैं। मानवाधिकार की व्यापक अवधारणा व्यक्ति के विकास तक सीमित नहीं रहती, बल्कि उससे एक सामाजिक प्राणी के रूप में सद्व्यवहारों की अपेक्षा भी रखती है और उसे ऐसा करने के लिए अवसर भी प्रदान करती है। व्यक्ति से समाज और समाज से एक कल्याणकारी राज्य तक पहुंचने की क्रिया का भी निर्धारण करती है। इसका अंतिम लक्ष्य किसी व्यक्ति की आध्यात्मिक, नैतिक और भौतिक सुख-समृद्धि प्राप्त करना है। घोषणा-पत्र के अनुच्छेदों को केंद्र में रखकर व्यक्ति और उसके परिवारों के अनेक मौलिक मुद्दे उठाए गए हैं। काम का अधिकार, भोजन का अधिकार, सूचना का अधिकार, पर्यावरण का अधिकार व्यक्ति केंद्रित भी हैं और समाज-केंद्रित भी। अनुच्छेद 25 में स्पष्ट है कि हर व्यक्ति को स्वास्थ्य का अधिकार प्राप्त होगा, जिसमें भोजन, आवास और चिकित्सा संबंधी अधिकार भी होंगे।

स्पष्ट ही लेखक ने अपनी ओर से इस पुस्तक की भूमिका में निवेदन करते हुए लिखा है, "आज यह जरूरी हो गया है कि भारत के सभी नागरिक यह जानें कि भारतीय संविधान तथा अन्य कानूनों के तहत उन्हें

क्या-क्या अधिकार प्राप्त हैं। उनके उल्लंघन होने पर सही जगह पर वे कैसे कानूनी कार्रवाई करें। बच्चों, महिलाओं, दलितों, अल्पसंख्यकों, बंधुआ मजदूरों और कैदियों को विशिष्ट मानवाधिकार प्राप्त हैं, जबकि सभी लोगों को बहुत सारे सामान्य अधिकार प्राप्त हैं, जिनमें शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन, काम, सूचना, स्वच्छ पर्यावरण, शांति आदि प्रमुख हैं।'' कहना न होगा कि लेखक का उपर्युक्त कथन इस पुस्तक के बहुआयामी पक्षों को निर्दिष्ट करता है और इस उद्घोषणा की गंभीरता ही इस पुस्तक का रचनात्मक आधार है। लेखक ने इस पुस्तक के लिखने में न केवल तमाम जरूरी आंकड़े दिए हैं, बल्कि गहरी सोच एवं आदृष्टि- संपन्नता से समाजशास्त्रीय व्याख्या भी की है। लेखक ने इसके साथ-साथ सैद्धांतिक पक्ष पर भी सम्यक् प्रकाश डाला है, जिसके कारण सोने में सुहागा उपलब्ध हो गया है। मानवाधिकार की मूल संवेदना, अधिकार और भारत के संदर्भ में व्याख्या विशद् रूप से यहां की गई है। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भारतीय परिवेश, संवैधानिक और न्यायिक अधिकार, न्याय पद्धति, इसके विकास की दशा और दिशा आदि विचारणीय बिंदु रहे हैं। सभी संस्थाओं, संगठनों और व्यक्तियों के लिए अत्यंत उपयोगी तथा संग्रहणीय पुस्तक है यह। अंत में कहा जा सकता है कि यह पुस्तक गागर में सागर है तथा इसकी विशद् अंतर्वस्तु एवं रोचक शैली के कारण यह कालजयी कृति सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है। पुस्तक का आवरण, छपाई आदि भी अच्छी है तथा 255 पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य अस्सी रुपए है, जिससे कोई भी इसे आसानी से खरीद सकता है।

भारत में मानवाधिकार/सुभाष शर्मा/नेशनल बुक ट्रस्ट, 5, नेहरु भवन, इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-।।, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070/पृष्ठ 255/मूल्य : ₹ 80

303, चंचल अपार्टमेंट, पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-13, मो. 09431887703

---

*अभी इस पुस्तक पर लेखक को राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की ओर से रु. 50,000 का प्रथम पुरस्कार दिया गया है। हार्दिक बधाई! —**संपादक***

चढ़ी जवानी बुड्ढे नूं!

(गैब्रियल गार्सिया मार्क्वेज के लघु उपन्यास पर परिचयात्मक टिप्पणी)

द्रोणवीर कोहली

गैब्रियल गार्सिया मार्क्वेज की सर्वाधिक रचनाओं का आधार उसकी अपनी स्मृतियां हैं। लेखक ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि ये स्मृतियां तब जागती हैं, जब ''मैं अपने बचपन के घर के आगे खड़ा होता हूं।'' फिर वह यह दावा भी करता है कि ''मेरी सभी रचनाओं में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है, जिसकी बुनियाद हकीकत पर न हो।''

उपर्युक्त दोनों दावों की पुष्टि करता है गार्सिया मार्क्वेज का यह लघु उपन्यास, जो मूल रूप में स्पैनिश में Memoria de mis putas tristes (मेमोरिया दे मीज पूतास त्रीस्तेस) नाम से और अंग्रेजी में Memories of my Melancholy Whores नाम से छपा है। हिंदी में इसका शीर्षक रखना हो, तो मेरी सम्मति में यह शीर्षक 'मेरी उदासीन वेश्याओं के संस्मरण' रखा जा सकता है।

सो, हम यह मानकर चलते हैं कि उत्तम पुरुष में लिखे इस उपन्यास में भी लेखक के अपने ही जीवनानुभव होंगे।

यह उपन्यास आकार में और थीम में गार्सिया मार्क्वेज के सभी उपन्यासों से भिन्न है। पाकेट बुक्स साइज में मोटे टाइप में और खुली-खुली पंक्तियों वाली यह रचना मात्र 113 पृष्ठों की है और दाम बीस डालर (करीब 950 रुपए) रखकर प्रकाशक ने लेखक की शोहरत को भुनाने की कोशिश की है। मैंने विदेश-प्रवास के दौरान थोड़ी हिम्मत करके यह किताब खरीदी, क्योंकि मार्क्वेज की नई रचना पढ़ने की उत्सुकता हमेशा रहती है।

यह उपन्यास वेश्याओं और वेश्यागामी पुरुष के अनुभवों के बारे में है। इस रचना का पहला वाक्य ही सूफी किस्म के लोगों को उसी तरह क्षुब्ध करेगा, जिस तरह नैबोकोव की 'लोलिता' का पहला वाक्य ''लोलिता, लोलिता, फायर आव माइ लायन्ज'' पढ़कर कुछ लोगों ने इस पर प्रतिबंध लगाने की गुहार की थी (प्रभाकर माचवे ने मुझे बताया था—उन दिनों वह साहित्य अकादेमी के सचिव थे—यदि जवाहरलाल नेहरू हस्तक्षेप न करते, तो हम लोग 'लोलिता' पढ़ने से वंचित रह जाते)। गार्सिया मार्क्वेज की इस रचना का भी पहला वाक्य कुछ ऐसा ही है, ''जिस दिन मैं नब्बे का हुआ, मेरी मनोकामना थी कि मैं अपने आपको किसी अल्हड़, कच्ची-कुंआरी छोरी के साथ रात गुजारने का तोहफा दूं...''

मैं यह वाक्य पढ़कर हँसा था—यह सोचकर कि यह तो 'चढ़ी जवानी बुड्ढे नूं' वाली बात हुई। इसके साथ यह भी लगा कि इस कहानी में भी कुछ ऐसे ही किस्से होंगे, जैसे कि कुप्रिन के 'यामा, द पिट' में या कमलेश्वर के 'मांस का दरिया' में होते हैं या जो राजकमल चौधरी की कुछ रचनाओं की विशेषता है।

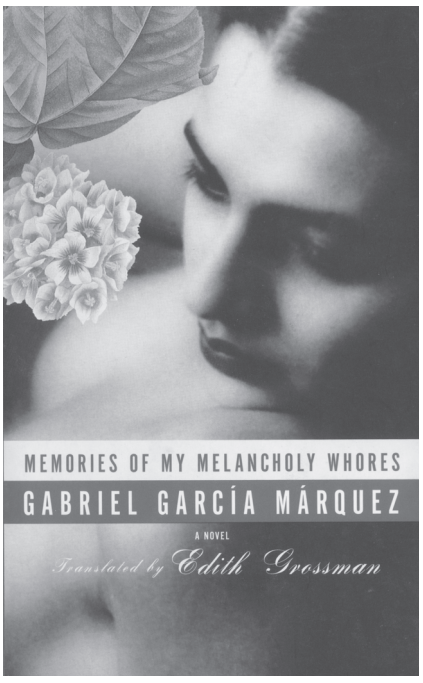

इस उपन्यास का नब्बे बरस का बुड्ढा (मान लीजिए, गार्सिया मार्क्वेज स्वयं) स्वीकार करता है कि बचपन में ही वह वेश्याओं के चंगुल में फंस गया था। उसका पिता किसी ऐसी इमारत में काम करता था, जिसकी ऊपर वाली मंजिलों पर देह व्यापार करने वाली गुरबत की मारी औरतों के कोठे थे। भोर तक धंधा करने के बाद वे ग्यारह बजे तक वहां नंग-धड़ंग डोलती रहती थीं। यह बालक लड़कपन की उत्सुकता के कारण उस मंजिल पर झांकने गया, तो एक वेश्या ने उसे दबोच लिया बाद में फिर इसका शिशु-पुरुष जग गया।

इस तरह, इस बालक को बारह बरस की उम्र से ही पहले चकले की जो चाट लगी, तो उसका सारा जीवन चकलों के चक्कर काटते हुए बीता। नब्बेवें जन्मदिवस पर पहुंचते-पहुंचते यह मुर्गा कितनी मुर्गियों को फँसा चुका था, इसका हिसाब भी रखता रहा था और हर औरत की उम्र और स्थान भी दर्ज करता था और यह भी लिख रखता था कि किन परिस्थितियों में इन औरतों से उसका टकराव हुआ। बताता है कि पचास की उम्र तक आते-आते उसने 514 औरतों के साथ कम-से-कम एक रात बिताई और जब शरीर शिथिल होने लगा, तो उसने यह सूची बनानी छोड़ दी। चकलों में वह चूंकि नियमपूर्वक जाता था, सो, दो बार उसे 'वर्ष का ग्राहक' की उपाधि से विभूषित भी किया गया था।

वेश्याओं के अलावा, इस शख्स ने एक लड़की के साथ विपरीत रति भी की थी। वह थी उसकी अपनी घरेलू नौकरानी दामियाना नाम की ग्रामीण बाला। एक दिन वह बैठा लिख रहा था कि उसकी नजर उठी, तो दामियाना लांडरी रूम में झुकी-झुकी काम कर रही थी। उसकी स्कर्ट इतनी छोटी थी कि उसकी रसीली गोलाइयां देख वह रसिक संयम खो बैठा और उठकर उसने उसकी कच्छी घुटनों तक खींच उतारी थी और पीछे से चढ़ाई कर दी थी। उन दिनों महंगी-से-महंगी औरत को जितनी रकम देनी पड़ती थी, उससे दुगुनी रकम उसने दामियाना को देकर संतुष्ट करना चाहा, लेकिन उसने पाई-पैसा स्वीकार नहीं किया। इस तरह यह सिलसिला बेखटके चलता रहा। कई बरसों बाद उसने दामियाना से पूछा था, ''कुछ याद है,'' तो वह कहती है, ''मैं बीस बरस तक रोती रही। तुम विश्वास नहीं करोगे, लेकिन, ईश्वर जानता है, मैं अब भी कुंआरी हूं।''

इसी शख्स पर नब्बेवीं वर्षगांठ पर जिस क्षण किसी अल्हड़ बालिका को अपनी अंकशायिनी बनाने का भूत सवार हुआ, उसने अपनी पुरानी परिचित मैडम रोजा कबारकस को फोन किया और अपनी इच्छा प्रकट की। चकले की स्वामिनी यह मैडम अपने अच्छे ग्राहकों को सूचित करती रहती थी, जब कोई अच्छी चिड़िया उसके हाथ लगती थी। वह उससे कहती है, ''अरे, बीस बरस बाद मेरी सुध ले रहा है और यह नामुमकिन-सी फरमाइश कर रहा है!'' वह कहता है, ''सुन, एकदम अछूती होनी चाहिए छोकरी और चाहिए भी आज रात को ही। मेरी इस उम्र में एक घंटा भी साल के बरोबर होता है।''

पाठक संशय कर सकता है कि बुढ़ौती में आदमी तो पुरुषत्व खो बैठता है, विशेषकर वेश्यागामी किसी-न-किसी रोग का शिकार हो ही चुका होता है, फिर भी इस बुड्ढे पर जवानी का भूत कैसे सवार हुआ, लेकिन वह कहता है, ''उम्र से बुढ़ापा न देखो, लेकिन यह देखो कि तुम अपने आपको कितना बूढ़ा महसूस करते हो।''

रोजा खेदपूर्वक कहती है कि इतनी जल्दी कुछ नहीं हो सकता। वह कहता है, ''अंतःप्रेरणा चेतावनी नहीं देती।'' सो, रोजा के जवाब के इंतजार में बैठा वह खाना-पीना तक भूल जाता है। पढ़ने-लिखने में भी मन नहीं लगता। संगीत भी उसे अच्छा नहीं लगता। तभी रोजा का फोन आता है, ''चौदह बरस की एक चीज मिल गई है।''

वह गया, तो रोजा उसे हरे लेप की डिबिया थमाते हुए कहती है, लड़की से कहना कि इसे उंगली से लगा ले और स्वयं लगाकर दिखाती भी है और कहती है, ''छोरी को मैंने ब्रोमाइड और वैलेरियन का घोल पिलाया है। इस वक्त सो रही है।''

धड़कते दिल से वह जाता है। लड़की दरवाजे की ओर मुंह किए सो रही है—वैसी ही निर्वस्त्र और निःसहाय, जैसी की पैदा हुई थी। छत पर लगी बत्ती में उसका अंग-प्रत्यंग नुमायां था। वह शैया के किनारे बैठकर उसका मुआयना करता रहता है। उसे खूबसूरत और साफ-सुथरी बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई थी। फिर भी, चाशनी के रंग जैसी उसकी त्वचा खुरदरी लगती थी। उसके उभरते उरोज किसी लड़के के सीने जैसे लगते थे, लेकिन भरे-भरे थे, जैसे भीतर छिपी उर्जा से किसी भी वक्त फूट सकते थे। पंखा होने के बावजूद लड़की पसीने से नहा गई लगती थी।

यह शख्स भी निर्वस्त्र होकर शैया पर इस सावधानी से बैठ जाता है, ताकि लड़की जाग न जाए। वह तर्जनी से उसकी ग्रीवा का स्पर्श करता है, तो वह सिहर-सी उठती है। अंगूठे और तर्जनी से उसकी नाक को छूता है,तो उसकी देह कांप उठती है और वह पीठ करके पड़ जाती है। वह घुटनों से उसकी जांघों को चौड़ा करना चाहता है। लड़की रानों को कसकर प्रतिरोध करती है, लेकिन जागती नहीं। वह उसके कान में गुनगुनाता है : फरिश्ते देलगादीना की शैया को घेरे खड़े हैं. ..*

यहां पर बूढ़ा कहता है कि वह इतना उत्तेजित हो गया था कि उसका मंथर, सेवानिवृत्त जीव लंबी नींद से जाग उठा, लेकिन लड़की सिमट गई थी। वैलेरियन के घोल का असर उस पर तो था ही, बूढ़े पर भी होने लगा। सोचता है कि अब छोरी को जगाने का कोई फायदा नहीं।

घड़ी बारह बजा रही थी। 29 अगस्त का दिन शुरू होने जा रहा था। लड़की नींद में बड़बड़ा रही थी। वह भी सो गया। प्रातः जागा, तो लड़की उसकी तरफ पीठ किए सो रही थी। बैठा-बैठा सोचता है, ''मैं रात की दुल्हिन चुनने के लिए हमेशा उसकी खूबसूरती नहीं, उसकी कीमत देखा करता था...आज मैंने सोती हुई लड़की को आंख भरकर देखने का असंभाव्य सुख पाया और वह भी बिना वासना के वशीभूत होकर...''

बुड्ढा पांच बजे उठ जाता है, क्योंकि उसका रविवारीय स्तंभ दोपहर से पहले संपादक की मेज पर पहुंचना चाहिए (जान लीजिए कि गार्सिया मार्क्वेज सुप्रसिद्ध पत्रकार एवं स्तंभ-लेखक है)। एकदम अछूती, कुंआरी लड़की प्रातःकालीन शांत द्युति में पीठ के बल दोनों बांहें फैलाए सो रही थी। बूढ़े के खीसे में जितनी रकम थी, उसे लड़की के तकिए पर रखकर जब वह बाहर निकला, तो तेज धूप और अपने नब्बे साल का बोझ उससे झेला नहीं जा रहा था।

उसी दिन रोजा का फोन आता है, ''छोरी और तेरे बीच क्या हुआ?'' इस सवाल का जवाब वह क्या देता। फिर भी, उसके मुख से निकल गया, ''कुछ नहीं।'' वह कहती है, ''कहते हो, कुछ नहीं, जबकि तुमने उसे जगाया तक नहीं। औरत उस पुरुष को कभी माफ नहीं करती, जो पहली बार उसकी अवमानना करता है। सच्ची बात तो यह है कि वह जान गई है कि तुम कुछ करने लायक नहीं रहे, और मैं नहीं चाहती कि वह इस बात का ढिंढोरा पीटे।''

वह स्वीकार करता है कि लड़की सही कहती है—अब मैं कुछ करने लायक नहीं हूं। वह शाम को जाकर रोजा से क्षमा मांगते हुए इल्तिजा करता है कि वह लड़की से कहे कि मेरा इंतजार करे—उसी लिबास में जिस लिबास में ईश्वर ने उसे दुनिया में भेजा। किसी किस्म का मेकअप नहीं करेगी।

रोजा कहती है, ''तुम उसका एक-एक वस्त्र हरण करने के सुख से वंचित रह जाओगे, जैसा कि बूढ़े करना पसंद करते हैं।''

अब वह रात को ठीक दस बजे लड़की के कमरे में जाता है, लेकिन वह करवट बदलकर उसकी तरफ पीठ कर लेती है। बिस्तर पर उसे खून की डबरी होने का भ्रम हुआ, लेकिन गौर से देखता है, तो वह रक्त नहीं, लड़की के पसीने की सीलन थी।

रोजा ने उसे बता दिया था कि छोरी को थोड़ी और वैलेरियन पिला दी गई है। सो, उसके साथ वह सावधानी से व्यवहार करे, क्योंकि अभी तक उसके मन में पहली बार की दहशत गई नहीं। सो, वह तौलिए से उसका पसीना पोंछते हुए उसके कान में देलगादीना का वही लोकगीत गुनगुनाते-गुनगुनाते उसकी बगल में सो जाता है। सुबह कहीं पांच बजे उसकी नींद खुलती है। जल्दी-जल्दी कपड़े पहनकर वह तैयार हो रहा होता है कि उसकी नजर आईने पर जाती है, जिस पर लिपस्टिक से लिखा था : 'बाघ कहीं निकट ही खा रहा है'। जानता था कि पिछली रात वहां ऐसा कुछ नहीं लिखा था। जाकर रोजा से पूछता है। वह बताती है, ''छोरी तो निपट अनपढ़ है। किसी ऐसे व्यक्ति की लिखावट हो सकती है, जो कभी इस कमरे में मरा होगा।''

रोजा उससे फोन पर कहती है, ''समझ में नहीं आता कि एक रात और तुमने छोकरी के साथ बिताई और उसे छुआ तक नहीं। तुम्हें हक है कि लड़की को पसंद करो या न करो, मगर वयस्क की भांति उसके साथ व्यवहार तो करते. ..बहरहाल, मेरे जेहन में एक और छोकरी है। थोड़ी बड़ी जरूर है, लेकिन खूबसूरत है, अछूती भी है। उसका बाप बेटी को बेचकर मकान खरीदना चाहता है।''

वह नरपुंगव कहता है—नहीं, मुझे तो वही लड़की पसंद है। इस पर रोजा व्यंग्य करती है, ''इसी दशा को डॉक्टर लोग dimentia (जराजीर्ण) बोलते हैं।

उस रात भी वह दस बजे कोठे पर जाता है। दरवाजा धकेलता है, तो उसके सपनों की देलगादीना निर्वस्त्र और शांतभाव से बाईं करवट सो रही थी। उस रात भी वह उसकी बगल में लेटकर उसकी देह को, बस, निहारता ही रहता है और भोर वेला में उठकर चला आता है। अब वह अपने आपको नया मनुष्य अनुभव करने लगता है। अपनी 'देलगादीना' के प्यार की किश्ती में बहता जा रहा है—उसे ऐसे आनंद की अनुभूति होती है, जिसका अनुभव उसने जीवन में कभी किया नहीं था। प्रसन्न है कि उसने नब्बेवें साल के गुजरते-गुजरते अपने अंतःकरण की आवाज सुन ली थी।

साल खत्म होते-होते वह रोजा से यह करार करता है कि लड़की का कमरा सजाने के लिए वह जो भी चीजें लाएगा, वे कमरे में ही रहेंगी। हमेशा दस बजे आया करेगा और कोई-न-कोई चीज साथ लाया करेगा। रोजा कहती है, ''तुम इस छोकरी से शादी क्यों नहीं कर लेते। तुम्हारी उम्र के पुरुषों की समस्या यह है कि कुछ कर सकते नहीं हो। फिर भी कहते हो तुमने यह समस्या हल कर ली है।''

वह कहता है, ''सेक्स से तब सांत्वना मिलती है, जब तुम्हें प्यार नहीं मिलता।''

सप्ताहांत में लड़की को बुखार और खांसी हो आई। वह न तो काम पर जा सकी, न रोजा के कोठे पर आई। वह कहता है कि इस दौरान उसने एक कहानी-संग्रह और रोमां-रोलां के 'ज्यां क्रिस्ताफ' के छहों खंड पढ़ डाले। लड़की लौटकर आई, तो वह भी गया। अगले दिन आईने पर उसने यह लिखा देखा, ''प्रिय बाले! हम दुनिया में अकेले हैं।''

जन्मदिन की रात वह लड़की की देह के एक-एक अंग को चूमता है। ज्यों-ज्यों चूमता जाता है, कन्या की देह की आग भड़कने लगती है और उसमें से वनैली-सी गंध फूटने लगती है। पौ फटने की वेला में जब वह ऊंघने लगा, तो उसे ऐसी आवाजें सुनाई पड़ीं, मानो समुद्र में भयानक तूफान आ गया हो और पेड़ों में तहलका मचा हो। वह मर्माहत हो उठता है। उस दिन उसे पता चलता है कि लड़की क्रिसमस की छुट्टियां उसके साथ नहीं, अपने परिवार के साथ बिताएगी। फिर भी, क्रिसमस की रात वह लड़की की अनुपस्थिति में उस कमरे में आराम से सोता रहता है।

एक दिन रोजा ने आकर उसे जगाया और बताया कि उसके कोठे पर किसी बड़े बैंकर की हत्या हो गई है। लाश नंगी और भारी-भरकम थी। प्रतीत होता था, किसी ने छुरा घोंपकर उसे मार डाला था।

उस रात घर आकर उसने रोजा से लड़की के बारे में पूछा। चार दिन तक रोजा ने कोई जवाब नहीं दिया। पांचवें दिन वह चलकर गया, तो देखता है, कोठा सील हो गया है। अब वह लड़की की तलाश में मारा-मारा फिरता है। इतना परेशान कि दो हफ्तों के दौरान वह अपने स्तंभ में जो लिखता है, वह प्रेमपत्रों के मॉडल थे। उस लड़की की याद उसे बुरी तरह सताने लगती है। सोचता है, क्या लड़की भी उसके लिए इतनी परेशान होगी। वह हफ्ता-भर न नहाया-धोया, न ब्रश किया। बार-बार रोजा को फोन करता है। अंततः समझ जाता है कि रोजा का फोन 'निर्मम' है। कहता है, ''मैं हमेशा सोचा करता था कि प्रेम में मुब्तिला होना मात्र कवि-कल्पना है। मैंने पंद्रह से ज्यादा साल लियोपारडी की कविताओं का अनुवाद करने में बिताए, और उस सांझ ही यह गूढ़ रहस्य मेरी समझ में आया : आह! अगर यही प्यार है, तो कितना पीड़ादायक होता है...मैं सोच नहीं सकता था कि सोई हुई वह लड़की मेरे भीतर इतनी खलबली मचा सकती है।''

अब करीब महीने बाद रोजा का फोन आता है। उससे वह लड़की के बारे में पूछता है। वह लंबी चुप्पी के बाद बताती है कि लड़की वहीं है, लेकिन फिर टालमटोल करने लगती है।

अपराह्न वेला में वह दौड़ा-दौड़ा रोजा के कोठे पर गया, तो उसे बंद पाया, लेकिन शाम छह बजे अचानक रोजा का फोन आया। वह इतना खुश कि चाकलेट और गुलाबों से भरी टोकरी लिए-लिए भागा-भागा जाता है। लड़की के लिए वह फूलों की सेज बिछाना चाहता था।

लड़की शैया पर लेटी थी। उसके चेहरे की चमक-दमक देखकर वह उसे पहचान ही नहीं पाता। प्रतीत होता था, परिपक्व हो गई थी। दो-तीन साल बड़ी भी हो गई लगती थी। समुद्र में नहाते-नहाते उसकी त्वचा भी भूरी-भूरी-सी लगने लगी थी। उसकी छातियां इतनी बढ़ गई थीं कि हाथों में समाती नहीं थीं। उसकी बनावटी बरौनियां, सस्ती परफ्यूम देखकर तो वह सुन्न-सा देखता रह जाता है। लड़की ने नाखूनों पर पॉलिश और ऐसी-ऐसी खुशबू लगा रखी थी, जिसका प्यार से कोई ताल्लुक नहीं हो सकता, लेकिन जिन चीजों ने उसे पागल कर दिया, वे थीं : हीरों-पन्नों जड़ी उसकी बालियां, असली मोतियों की माला, जड़ाऊ कंगन, उंगलियों पर नगीने।

वह एकाएक चीख पड़ता है, ''वेश्या!'' (जो शख्स जीवन-भर वेश्याओं की संगति करता रहा, अब 'वेश्या' उसी के लिए घिनौना शब्द हो गया था!)

अब सारा भेद खुलता है। जिस रात बैंकर की हत्या हुई थी, उस दिन पुलिस को वह नाबालिग लड़की उसी कमरे से मिली थी। रोजा ने अपनी जान बचाने की खातिर लड़की का सौदा किसी दौलतमंद आदमी से कर दिया था।

बस, यह जानते ही बुढ़ऊ कमरे में रखी एक-एक चीज दीवार के साथ पटक-पटककर तोड़ने लगता है। रोजा उसे समझाने की कोशिश करती है : समझदार मानुस की तरह बात कर। हत्या की घटना के बाद मैं परसों ही लौटी हूं और सबसे पहले तेरे को फोन किया। तुमने कोई जवाब नहीं दिया। फिर लड़की भी आ गई थी, लेकिन बुरी हालत हो गई थी उसकी। उसे नहला-धुलाकर तेरे लिए तैयार कर दिया है। ये जो मोती इसने पहन रखे हैं, सब मेरे हैं। हीरे-जवाहरात सब कांच के हैं। सो, उलटी-सीधी बातें करना छोड़ और जाकर उसे जगा। उससे माफी मांग और उसे अपनी छत्रछाया में ले ले।

रोजा की बात पर उसने विश्वास करने की कोशिश की, लेकिन तर्क से प्यार की शक्ति बलवान होती है। वह चिल्लाकर कहता है : वेश्याएं हो तुम। मैं तुममें से किसी से वास्ता नहीं रखना चाहता—उस लड़की से तो कभी नहीं।

और यह कहकर वह वहां से चला आता है। अब कहता है कि जूलियस सीजर का कथन है कि अंततः वैसा होना नामुमकिन नहीं है, जैसा कि दूसरे लोग तुम्हें बनाना चाहते हैं।

वह बेचैन रहने लगता है। खाना-पीना भी छोड़ देता है। उसका वजन इतना घट गया कि पतलूनें ढीली हो गईं। हड्डियां दुखने लगीं। रात की नींद हराम हो गई। न पढ़ सकता था, न संगीत सुन सकता था।

उन्हीं दिनों अचानक उसकी भेंट एक पुरानी वेश्या से हुई, जो अब 73 बरस की हो गई थी और किसी चीनी किसान से ब्याह करके घर बसा रही थी। वह उसे अपने फार्म पर ले जाती है। वहां उसे उस लड़की और रोजा के बारे में सब बताता है। वह सलाह देती है : चाहे जो कर, उस बच्ची को खोना मत। एकाकी मरने से बड़ी बदकिस्मती और कोई नहीं। और वह उसे जो सलाह देती है, उसका हिंदी में अनुवाद अश्लील समझा जाएगा। अंग्रेजी वाक्य का आशय जाकर उसे जगा और प्यार के साथ संभोग करने का कौतुक जाने बिना मरना नहीं।

अगले दिन रोजा को फोन करता है और कहता है—आज वह दिन है।

रोजा जवाब देती है : तू दो महीने गोता लगा गया। महीने से ऊपर हुआ, वह लड़की मुझे भी दिखाई नहीं दी। बटन टांकना छोड़कर किसी दूसरे धंधे में है, जहां अच्छी उजरत पाती है।

सुनते ही बुढ़ऊ के जिस्म में आग लग गई। और तीन दिन बाद रोजा फिर फोन करती है कि लड़की कुशल से है। वह उसी रात लड़की से मिलने दौड़ा जाता है और रोजा को यह लिखकर देता है कि उसकी मृत्यु के बाद लड़की को क्या-क्या मिलना चाहिए। 91वां जन्मदिन था उसका। दूर कहीं घंटे-घड़ियाल सुनाई पड़ते थे। लड़की करवट लेकर सो रही थी। तभी कहीं से कोई चिल्लाया और किसी की सिसकियां सुनाई पड़ीं। सोचता है, शायद उसी की होंगी जो इस कोठरी में सौ साल पहले मरा होगा या मरी होगी। वह फूंक मारकर बत्ती बुझा देता है। लड़की की उंगलियों में उंगलियां उलझाता है, ताकि उसका हाथ पकड़कर उसे ले जाए। रात के बारह घंटे बजने के साथ उसने भी बारह आंसू टपकाए। जब मुर्गों ने बांग दी, तो उसने रोजा से सबसे पहले यह बात कही—मैं यह कोठा खरीदता हूं। वह कहती है—चल, बूढ़ों की तरह हम दोनों दांव लगाते हैं। दोनों में से जो जीवित रहे, वह दूसरे की हर चीज का मालिक बने। वह कहता है, नहीं, उसके मरने के बाद उसकी एक-एक चीज इस लड़की की होगी। वह कहती है, बात एक ही है। वह लड़की की हर सुख-सुविधा का ध्यान रखेगी और उसके लिए सर्वस्व छोड़ जाएगी जो उन दोनों का है। वह पूछता है, लड़की राजी होगी। वह कहती है, तुम बूढ़े जरूर हो, लेकिन वज्रमूर्ख नहीं हो। बेचारी तुम पर मरती है।

वह प्रसन्नचित्त बाहर आता है। प्रातः सवा छह बजे हैं और उसका घर शांत और व्यवस्थित लगता है। दामियाना किचन में ऊंचे स्वर में गा रही थी। उसने अपने बिखेर कागजों को, कलम-दवात को करीने से रखा। बादाम के वृक्षों से सूर्य की किरणें फूट रही थीं। कहता है : यही वास्तविक जीवन है। मैं जान गया हूं कि बुढ़ापा नहीं, प्रेमरोग मेरी मृत्यु का कारण होगा।

यहां देख सकते हैं कि ऐसे कठिन थीम को निभाना गर्सिया मार्क्वेज जैसे परिपक्व लेखक के ही बूते की बात थी। कोई दोयम दर्जे का अमेरिकी लेखक होता, तो जगह-जगह चटखारे लेकर सेक्स वर्णन करता, क्योंकि इसके लिए अनेक स्थल थे, लेकिन गार्सिया मार्क्वेज ने बड़े संयम से काम लिया है। कहां तो वह बूढ़ा अपने नब्बेवें जन्मदिन पर किसी अल्हड़ कन्या के साथ संभोग करने के मंसूबे बांधता है और कहां निर्वस्त्र सोती हुई चौदह साल की कन्या के साथ निर्वस्त्र लेटकर भी वासना में न पड़कर लड़की की बाली उमरिया को और उसके सौंदर्य को निहारने में ही आप्तकाम होता रहता है। हर रात इसी तरह वह सोती हुई लड़की के पास बैठकर उसे निहारता रहता है, उसे सहलाता-पुचकारता है, चूमता है, अपना स्तंभ पढ़कर सुनाता है, उसके कान में गुनगुनाता है, उससे वासना रहित प्रेम करने लगता है और इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि जब किसी को प्यार नहीं मिलता, तभी वह वेश्याओं के संग तसल्ली पाता है।

इस उपन्यास के शीर्षक में लेखक ने वेश्याओं के लिए 'उदासीन' शब्द का प्रयोग किया है, जबकि स्थिति यह है कि सारी कथा में ऐसी एक भी औरत की उदासीनता का वर्णन नहीं किया गया है। वास्तव में, 'उदासीन' तो वह नब्बे बरस का झक्की और एकाकी बूढ़ा पत्रकार है, जो पैसे देकर आत्मतुष्टि पाने की फिराक में रहता है। यह एक बहुत बड़ी चूक गार्सिया मार्क्वेज की प्रतीत होती है।

इस उपन्यास के बारे में एक रोचक बात यह है कि जब यह उपन्यास छप रहा था, तो मशहूर लेखकों की पुस्तकें गैर-कानूनी तरीके से छापने वालों ने किसी तरह मार्क्वेज के इस उपन्यास की पांडुलिपि प्राप्त करके जाली संस्करण छापने की योजना बनाई थी। गार्सिया मार्क्वेज को और प्रकाशकों को इस बात की भनक पड़ी, तो चोरों को छकाने के लिए गार्सिया मार्क्वेज ने उपन्यास का अंतिम अध्याय ही बदल दिया। संभवतः किसी लेखक ने ऐसा उद्योग पहली बार किया था। मूल अध्याय का पाठ प्रकाशित अध्याय से किस तरह भिन्न है, यह शोध का विषय है।

मेमोआर्स ऑफ माइ मेलनकली ह्योर्स/ग्राविएल गार्सिया मार्क्वेज/अल्फ्रेड ए नोफ, रैंडम हाउस, न्यूयॉर्क, मूल्य $ 20

एस-23/6, डीएलएफ तीन, गुड़गांव-122002/फोन 0124-4060417 व 9810815791

जकीया जुबैरी की कहानी 'मन की सांकल' का अंतर्पाठ

साधना अग्रवाल

हिंदी के प्रवासी कहानीकारों में जकीया जुबैरी एक सार्थक ही नहीं, महत्वपूर्ण नाम है। उन्होंने न केवल खुद कुछ अच्छी कहानियां लिखी हैं, बल्कि उनके अनुभव के आधार पर उनके समकालीनों ने भी दरकते मानवीय संबंधों को लेकर कई उल्लेखनीय कहानियां लिखी हैं। ऊपर से देखने पर उनकी अधिकांश कहानियां सरल लगती हैं, लेकिन इस सरलता के पीछे उनके अनुभव के 'ताप के ताए हुए दिन' हैं, जिनकी अनेक परतें हैं। उनकी प्रस्तुत कहानी के चुनाव के पीछे मेरी यही मंशा रही है कि पूरब और पश्चिम के नैतिक, पारिवारिक और सामाजिक मूल्यों की टकराहट को हम तीव्रता के साथ महसूस कर सकें।

जकीया जुबैरी की कहानी 'मन की सांकल' माँ और बेटे के क्रमशः रिश्ते को लेकर लिखी एक ऐसी मनोवैज्ञानिक कहानी है जिसमें लेखिका, ने एक बहुत ही जटिल थीम को पूरी ईमानदारी के साथ कागज पर उतारा है। उनकी खूबी यह है कि पूरी कहानी में कहानीपन कहीं भी छूटता दिखाई नहीं देता। सीमा बचपन में बेटे समीर को पिता की मार से न केवल बचाती है बल्कि बेटे के बदले की मार खुद झेलती है लेकिन बदलते समय के साथ आज अपने ही बेटे के हाथों झिंझोड़ी जा चुकी है। उसके बीमार बदन पर नील पड़ गए हैं। दोनों के संबंध अब उस कगार पर पहुंच गए हैं जहां मां के मन में अपने ही बेटे के प्रति डर बैठ गया है कि कहीं रात को सोते हुए उसकी हत्या न कर दे। इसी डर से वह उठती है और रात में कमरे की सांकल लगा देती है। यहां सांकल एक भयावह बिंब की तरह उभरता है क्योंकि मां-बेटे के संबंधों में बड़ी दरार उत्पन्न हो गई है।

सीमा अपने बेटे समीर से बेहद प्यार करती है, यहां तक कि बचपन में उसको पिता की मार से बचाने के लिए खुद मार खाती है और उफ तक नहीं करती। दोनों बेटियों के बीच का सैंडविच यही बेटा उसके लिए बुढ़ापे में मुसीबत बन जाता है यहां तक कि उससे उसको अपनी जान का खतरा महसूस होने लगता है जबकि यही बेटा बचपन में अपनी मां की आंखों में प्याज छीलने के क्रम में उत्पन्न आंसू रोकने के लिए मुंह में धनिये के बीज डाल दिया करता था, आज वह भी अपने पिता के नक्शे-कदम पर चलने लगा है। क्या ऐसा सीमा की दी हुई परिवरिश के कारण था या कुछ और या फिर ब्रिटेन के वातावरण का प्रभाव जहां वह पला-बढ़ा था?

इस किंचित लम्बी कहानी में तीन पीढ़ियों की औरतों का दर्द लेखिका ने प्रस्तुत किया है—सीमा की सास, खुद सीमा और जिल यानी बहू। सीमा सोचती है कि उसने कभी नहीं चाहा था उसका बेटा समीर बिल्कुल अपने पिता के पद्चिह्नों पर चले। वह कोशिश करती है कि वह भी अपनी सास की तरह बन जाए जो अपने बेटे की मार को जल्दी ही भुला देती थी लेकिन उससे ऐसा हो नहीं पाता क्योंकि शरीर के घाव तो फिर भी भर जाते हैं पर आत्मा पर पड़े घावों के लिए कोई मलहम काम नहीं आता।

सीमा अपने बेटे समीर के उसूलों से परेशान भी है और चिंतित भी क्योंकि जहां मां और बहनों का मामला होता तो समीर भारतीय मानदंड अपनाता और अपने मामले में पश्चिमी मूल्य रखता। यही कारण है कि वह शादी-शुदा होते हुए भी एक दिन अपनी प्रेमिका नीरा को मां के घर न केवल लेकर आता है बल्कि पश्चिमी तौर-तरीकों की दुहाई भी देता है लेकिन जब सीमा समीर से कहती है कि उसके पिता वापस आकर यह सब देखेंगे तो अच्छा नहीं होगा। समीर लचर दलील देता है कि पिता के आने पर वह नीरा को यहां से वापस भेज देगा। सीमा को यह सब पसंद नहीं आता फिर भी वह अपने बेटे के खिलाफ कुछ भी नहीं बोल पाती। 'सीमा सब सह लेती... उसके दिमाग में समीर के बचपन की पिटाई की यादें छिपी हुई हैं...उसको दया आ जाती और वह चुप हो जाती पर उसने कभी यह नहीं सोचा था कि उसके ये फैसले समीर के लिए कितने हानिकारक हो सकते हैं। वह तो मां के स्नेह से लबालब थी... पुत्र की कमजोरियां भी स्नेह के आगे दब जातीं।'

सीमा को नीरा का व्यवहार पसंद नहीं था क्योंकि नीरा ने न केवल समीर पर अपना हक जमा लिया बल्कि सीमा की इजाजत के बिना उसका कंप्यूटर भी यूज किया। लेकिन समीर को नीरा के प्रति मां का यह व्यवहार पसंद नहीं, यहां तक कि वह अपनी मां पर हाथ भी उठा देता है। समीर की बहन मां की हिफाजत के लिए पुलिस को बुला लेती है, पुलिस के पूछने पर सीमा इतनी बेइज्जती और मार खाकर भी अपने बेटे का ही पक्ष लेती है और नीरा को पुलिस के हवाले कर देती है।

यद्यपि सीमा अपने बेटे का बचाव करती है लेकिन भीतर से वह बहुत डरी हुई है, यही कारण है कि रात को, 'एकाएक बिस्तर से उठती है सीमा और भीतर से कमरे की सांकल चढ़ा देती है'। इसी बोल्ड

कथन के साथ कहानी खत्म होती है। सच पूछिए तो कहानी यहां खत्म नहीं होती। अंतिम वाक्य के साथ कहानी की जो अनुगूंज पाठकों को सुनाई देती है—वही दरअसल कहानी का आरंभ है। बचपन से लेकर जवानी तक बेटे के प्रति मां की ममता का सांकल खुला रहता है, लेकिन नीरा को लेकर वयस्क बेटे के दुर्व्यवहार के कारण अचानक वह सांकल बंद हो जाती है। इस कहानी का निहितार्थ—सांकल के बाहर और भीतर दम तोड़ता है और मां को लगता है कि उसका प्रिय अपने बाप यानी उसके पति की परछाईं है यानी दाम्पत्य जीवन में या फिर विवाहेतर संबंधों में पिता और पुत्र का व्यवहार अपनी पत्नी और मां के प्रति वाचलता की सीमारेखा छू रही है। वात्सल्य से लेकर भयावह डर का यह सफर मां के मन को न केवल आहत करता है, बल्कि उसकी भावनाओं को क्रूरता के साथ कुचल देता है। लेखिका ने सांकल को एक बिम्ब के बतौर प्रयोग किया है जो मां और बेटे के रिश्ते पर एक कठोर टिप्पणी है कि मां को यह डर सताता है कि बेटा कहीं उसकी हत्या न कर दे।

इस कहानी की एक और महत्वपूर्ण पात्र है समीर की पत्नी जिल। जिल सुशील और नीली आंखों वाली अंग्रेज लड़की थी। समीर से बहुत प्यार करती और सीमा से अक्सर कहती, 'सीमा, युअर सन इज सो हैंडसम। इट वाज लव ऐट फर्स्ट साइट।' सास-बहू के मजाक चलते रहते। दोनों जैसे सहेलियां बन गई थीं। 'अंग्रेज तो वैसे भी कभी एक-दूसरे से उम्र नहीं पूछते... और न ही उनका पता, उनका पेशा या कौन-कौन सी कार चलाता है या कैसे आता-जाता है। किसी को किसी की कोई खोज नहीं रहती आपस में। केवल दोस्ती का रिश्ता होता है या नहीं भी होता... तो भी दुश्मन नहीं होती। मगर समीर अब जिल से नाराज रहने लगा था और उससे अलग रहने लगता है और सीमा से पूछता है—'मां, मैं उसको दो फ्लैट्स, आपके दिए तमाम जेवर और पांच हजार पाउंड कैश भी दे रहा हूं। जेवर देने में आपको समस्या तो नहीं होगी क्योंकि आप औरतों को जेवर से बहुत प्यार होता है।'

समीर की इन बातों से सीमा को ठेस लगती है क्योंकि सीमा को जिल बहुत अच्छी और संस्कारी बहू लगती है। वह सोचती है कि उसका वश चले तो वह जिल को अपने जेवर ही नहीं बल्कि अपने हिस्से की तमाम खुशियां भी दे दे। सीमा को अफसोस होता है कि उसका बेटा न रिश्तों को समझता है और ही किसी की भावनाओं को। सीमा खुद से सवाल करती है कि जमाना कितना बदल गया है। पहले बच्चे अपने मां-बाप से प्रश्न पूछते डरते थे। आजकल मां-बाप एहतियात बरतते हैं। यह सवाल हमारे बदलते समय का ऐसा कटु सत्य है जिस ओर लेखिका ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। क्योंकि मां-बाप समाज में हर परिस्थिति और प्रश्नों का सामना कर सकते हैं लेकिन अपने बच्चों के सामने वह न केवल हार जाते हैं बल्कि उनके प्रश्नों का सामना करने का उनमें साहस भी नहीं होता।

इस कहानी का एक प्रसंग पिता और पुत्र—दोनों की पुरुष मानसिकता—का वर्चस्व है जो अपनी पत्नी और मां पर कुत्सित, अश्लील आरोप लगाता है—'भला कौन अपनी मां को छिनाल कह सकता है... अपने यारों के साथ घूमती हैं.... क्या फर्क रह गया पति और बेटे में... वो भी तो अपनी कमजोरियां छुपाने के लिए यही इल्जाम लगाता रहा है.... समीर की जबान की कटुता की चोट जितनी गहरी लगी थी उतना तो बाजुओं पर पड़े नील के निशान का दर्द भी नहीं चुभ रहा था....।' यानी पति और बेटे—दोनों के अशोभनीय संस्कार के घेरे में घिरी मां पत्नी व्यथित हैं क्योंकि वह महसूस करती है कि दोनों की मानसिकता एक है। यानी इस कहानी का एक प्रस्थान बिंदु यह भी है, जहां स्त्री जाति को अश्लील आरोपों से बिंधा जाता है।

सीमा का चरित्र लेखिका ने एक असहाय नारी के रूप में उभारा है। क्योंकि औरत जिधर जाती है उधर दुख ही झेलने पड़ते हैं। सीमा को याद नहीं आता कि उसने कभी छुट्टी का दिन पति के साथ बिताया हो। वह अगर कभी किसी वीकेंड घर में रुक जाते थे तो ऐसा लगता जैसे बहुत बड़ा एहसान कर रहे हैं। जबकि सच्चाई यह है कि हर पत्नी को सबसे बड़ी खुशी तब मिलती है जब उसका पति उसके साथ कुछ समय व्यतीत करे। यहां मुझे तेजेंद्र शर्मा की कहानी 'कब्र का मुनाफा' याद आती है जिसमें भी पत्नी को यही शिकायत थी कि पति समझता है कि भौतिक-सुख-सुविधाएं जुटा देना पत्नी को खुश करना है जबकि पत्नी को असली खुशी तब मिलती है जब पति उसकी भावनाओं को ठीक से समझे। इस कहानी में भी सीमा के पति को इतनी भी फुर्सत नहीं कि वह गर्भवती सीमा के साथ डॉक्टर के पास जा सके। अपने मैनेजर के साथ सीमा को 'चेकअप' करने के लिए अस्पताल भेजने पर एक ऐम्ब्रासिंग स्थिति उत्पन्न होती है। जकीया जुबैरी की यह कहानी औरत के आंतरिक दर्द की कहानी है जिसमें सीमा के दर्द को न केवल हम समझ सकते हैं बल्कि कहीं भीतर पैठ कर महसूस भी कर सकते हैं। यह मां और पुत्र के संबंधों की एक खौफनाक कहानी है। सांकल का बिम्ब इस कहानी का सबसे सबल पक्ष है। ऐसा लगता है कि यह सांकल का बिम्ब सीधा इब्सन के नाटक के चरित्र नोरा तक ले गया जब वह दरवाजा बंद करती है तो लगता है कि पूरे यूरोप की महिलाओं ने दरवाजा बंद कर दिया हो। यह कहानी अपने भीतर एक क्रूर सच लिए हुए है। कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है इसका कहानीपन, इसकी शैली, टोन, स्टाइल, बातचीत का अंदाज जो कहानी को उत्कृष्ट कहानी की श्रेणी में पहुंचाने की काबिलियत ही नहीं रखती बल्कि इसे स्मरणीय कहानी भी बनाते हैं। इस कहानी के अंतर्पाठ के भीतर और बाहर कई अंतर्ध्वनियां हैं, जिन्हें पकड़ने की जरूरत है। इसीलिए यह कहानी सरल होते हुए भी जटिल है। संभवतः कहानी की संश्लिष्टता के कारण भी कहीं-कहीं जकिया जुबेरी की संप्रेषणीयता लड़खड़ा गई है। फिर भी निस्संदेह जुबेरी की यह एक अच्छी कहानी है।

4-सी, ऊना इंक्लेव, मयूर विहार, फेज-।, दिल्ली-110091 मो. 9891349058

जयपुर में 'सारस्वत वन का बावरा अहेरी : अज्ञेय'

कुबेर दत्त

(यह किस्त पिछले अंक में ही प्रकाश्य थी। लेकिन अंतिम समय में स्थानाभाव के कारण इसे रोकना पड़ा। अब जब यह अंक प्रेस में था कुबेर दत्त हमसे सदा के लिए बिछुड़ गए। हमें इस बात का गहरा दुःख है कि इसे प्रकाशित वे देख नहीं सके। —संपादक)

25 जून, 2011, कृष्णायन सभागार, जयपुर। डीडी भारती और दूरदर्शन केंद्र, जयपुर के संयुक्त तत्वावधान में अज्ञेय जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में आयोजित एक विशेष, दो सत्रीय कार्यक्रम। सुबह के सत्र में अज्ञेय के अवदान पर एक परिसंवाद था, जिसके प्रतिभागी थे—नंदकिशोर आचार्य, अशोक वाजपेयी, ओम थानवी और नंद भारद्वाज। सबने अलग-अलग पक्षों को रखा और परिसंवाद इस रूप में सफल और सुसंगत रहा कि अज्ञेय के गद्य-पद्य, व्यक्तित्व, उनकी भाषा, शिल्प, सरोकार, अनुभव और पत्रकार-संपादक के रूप में उनके महती अवदान को लेकर एक सारगर्भित बातचीत हुई। अनेक ऐसे प्रसंगों से भी परिचय हुआ, जिनके बारे में लेखक-समाज कम ही जानता है। वह पूरा संवाद और इसी तरह 30 जुलाई, 2011 को डीडी भारती व दूरदर्शन केंद्र, वाराणसी द्वारा काशी के भारतेंदु नाटक मंडली सभागार में शमशेर पर केंद्रित एक आयोजन में हुए एक परिसंवाद, जिसके प्रतिभागी ज्ञानेंद्रपति, मंगलेश डबराल, व्योमेश शुक्ल और डॉ. काशीनाथ सिंह थे, इन और वर्षभर अन्य केंद्रों में आयोजित 'शब्द-शताब्दी' आयोजनों की रिकॉर्डिंग की ट्रांस्क्रिप्शन-सामग्री ग्रंथ-शृंखला में दूरदर्शन के केंद्रीय आगार द्वारा प्रकाशित होगी।

तो, जयपुर केंद्र के उस आयोजन के दूसरे सत्र में दूरदर्शन अभिलेखागार द्वारा परिष्कृत एवं समायोजित एक वृत्तचित्र 'सारस्वत वन का बावरा अहेरी : अज्ञेय' मैं लेकर गया था, जिस पर मुझे बोलना था।

उस वृत्तचित्र को दिखाने के पहले मुझे यह बताना आवश्यक लगा कि एक अनुपलब्ध सामग्री को कैसे खोजा गया। यह बताने के भी पहले मुझे दूरदर्शन-आगार और उसके उपक्रमों के बारे में, पृष्ठभूमि और ऐतिहासिक बिंदुओं को एक सुचिंतित क्रम में रखना जरूरी लगा। रेडियो के बहुत शुरू के 2 वर्षों समेत मैं अब तक लगभग 40 वर्षों से दूरदर्शन में विभिन्न भूमिकाओं में काम कर रहा हूं।

तब दूरदर्शन, आकाशवाणी का ही हिस्सा था और 'आकाशवाणी-दूरदर्शन' कहलाता था। 76 में दूरदर्शन रेडियो से अलग हुआ, लेकिन अलग होने का अगर बड़ा मकसद ये था कि ये दोनों संस्थान एक-दूजे पर लदे बिना, बल्कि एक-दूजे की मदद से अपना-अपना विकास करें तो रेडियो के बारे में तो अधिकृत रूप से कुछ कहने का हक मैं उतना नहीं रखता, लेकिन अपनी यत्किंचित समझ और अनुभव के आधार पर यह कह सकता हूं कि बाहर से तो दूरदर्शन का बहुत विस्तार हुआ है। जहां शुरू में एक, फिर दो और चार केंद्र थे, अब छोटे-बड़े मिलाकर 40 के करीब केंद्र हैं और हिंदी-अंग्रेजी समेत भारत की करीब-करीब सभी संविधान-स्वीकृत भाषाओं में कार्यक्रम भी प्रसारित होते हैं, जिनमें से हर वर्ष राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कृत भी होते हैं। यह सब अच्छा है, सुंदर है, लेकिन बहुत-से इलाके ऐसे हैं, जिनमें विकास या तो शुरू नहीं हुआ या अपेक्षाकृत रफ्तार बहुत सुस्त है। इसका एक कारण तो

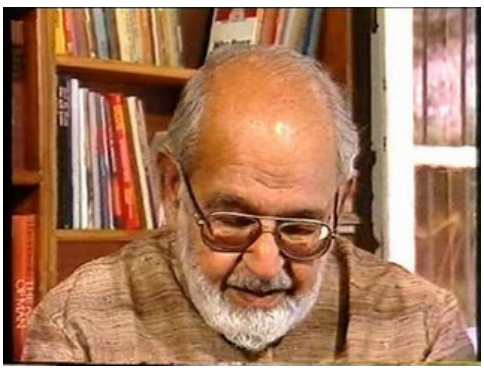

शासकीय चरित्र है, लेकिन बड़ा कारण है—प्रोग्राम- प्रोडक्शन, प्रोग्राम-व्यवस्थापन, प्रोग्राम-इंजीनियरिंग और कार्मिक-प्रशासन, इन निकायों में पर्याप्त तालमेल का न होना। ऊपर से हालत ये कि 20-22 वर्षों से रेडियो-दूरदर्शन में नई भर्ती नहीं हुई। नई प्रतिभाएं नहीं आ रहीं और अनुभवी प्रतिभाएं तेजी के साथ सेवानिवृत्त हो रही हैं। इसी के साथ यह भी बड़ा सच है कि टेलीविजन की तकनीकी तेजी के साथ बदल रही हैं। उनकी रफ्तार और उनके विशद ज्ञान से रूबरू होना यदि नहीं होगा तो हम पिछड़ जाएंगे। यूं तो हम दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र कहलाते हैं और दुनिया का सबसे बड़ा प्रसारण संस्थान भी कहलाते हैं, मगर केवल 'बड़ा' कहलाने से बात नहीं बनती।

1973 में जब मैं दूरदर्शन में प्रोड्यूसर बना, तब बाह्य छायांकन 16 मि.मी. फिल्म पर होता था। उसे प्रोसेस करके 16 मि.मी. के ही ध्वनि-टेप (परफोरेटेड टेप) के साथ संपादित करते थे। स्टूडियो की रिकॉर्डिंग 2 इंच चौड़े वीडियो टेप पर होती थी। वह एम्पैक्स फॉरमेट था। 16 मि.मी. फिल्में या तो लाइव चलती थीं, विशेषकर समाचार-प्रसारण और खेल-कार्यक्रमों में या फिर वृत्तचित्र और मैगजीन कार्यक्रमों के लिए उन्हें टेलीसिने यंत्र के जरिए एम्पैक्स वीडियो टेप पर रिकॉर्ड कर लिया जाता था। 16 मि.मी. फिल्मों की उम्र ज्यादा नहीं होती थी और वे उचित तापमान के अभाव में नष्ट हो जाती थीं। एम्पैक्स टेप विदेशों से आते थे और उसके बाद इतने सारे फॉरमेट बदल जाने के बाद भी टेप विदेशों से ही आते हैं। एम्पैक्स का जमाना जल्द लदने को है, यह बात किसी को पता तक नहीं थी, मगर हुआ यही। जब दूरदर्शन के उपग्रह केंद्र खुले, उनमें एक इंच टेप की मशीनें आ गईं। वह प्रोजेक्ट पूरा होता कि सामान्य केंद्रों के लिए

बीसीएन टेक्नीक आ गई। फिर लो बैंड, फिर हाई बैंड, फिर बीटा, उसके बाद बीटा-एस.पी. और उसके बाद वर्तमान में डीवीसी, फिर डीवीसी प्रो। इसके बाद तो हाई डेफिनेशन तकनीक आ गई। नौबत यह कि जल्द ही टेप नामक वस्तु गायब होने वाली है। कैमरों में टेप नहीं होंगे, केवल स्मृति-कोष होंगे। आर्काइव सामग्री भी डिजीटाइज होकर मीडिया-एसेट मैनेजमेंट के जरिए महास्मृतिकोष में स्टोर श्वेत-श्याम तथा रंगीन सामग्री इस महास्मृति-कोष में जमा हो चुकी है, हो रही है। आर्काइविंग का यह काम काफी देर से शुरू हुआ और पिछले आठ वर्षों में कमलिनी दत्त (तत्कालीन, डायरेक्टर, दूरदर्शन आर्काइव, और अब सलाहकार, दूरदर्शन आर्काइव) के अथक प्रयासों से हुआ। उन्हीं की विशेषज्ञता से प्रभावित होकर योजना आयोग ने एक बड़ी धनराशि इस काम के लिए स्वीकृत की। लाखों की तादाद में टेप सामग्री डिजीटाइज होकर महास्मृतिकोष में, रेस्टोरेशन की दुष्कर प्रक्रिया के बाद, सुरक्षित की जा रही है। आज दूरदर्शन का केंद्रीय आगार विश्व के गिनती के संस्थानों में से एक है।

अज्ञेय केंद्रित यह वृत्तचित्र 'सारस्वत वन का बावरा अहेरी : अज्ञेय' और इसी तरह शमशेर केंद्रित कार्यक्रमों की सामग्री अव्यवस्थाओं के चलते 'अप्राप्य' की श्रेणी में आ गईं। जब जन्म शताब्दी प्रोजेक्ट सामने आया तो सबके सामने सामग्री की उपलब्धता का संकट था। मुझे पता था कि प्रोजेक्ट मैंने ही तैयार किया था, लेकिन 'जनवाणी' यज्ञ में अपनी आहुति देने के क्रम में शूटिंग का काम हमारी सहयोगी दुर्गावती सिंह ने किया। वे दो दशकों से भी पहले सेवानिवृत्त हो चुकीं। किसी के पास कोई सूचना नहीं थी कि शूटिंग टेप अथवा यदि कोई मास्टर टेप है तो वह है कहां। लगभग 10 महीनों की खोजबीन के बाद कुछ हाईबैंड टेप हाथ लगे, जिनकी सामग्री तकनीकी रूप से बदतर हो चुकी थी। एक बड़ी चुनौती सामने थी।

मगर दूरदर्शन आर्काइव की मशीनों और तकनीकों की मदद से महीनों के श्रम के बाद आवाज और दृश्य सामग्री का क्रमबद्ध परिष्कार किया गया। यह एक दुष्कर काम था, मगर परिणाम सुखद निकला। कड़ी मेहनत के बाद लगभग एक घंटे की सामग्री में से 'सर्वश्रेष्ठ' को 30 मिनट के वृत्तचित्र का स्वरूप दिया गया। इस प्रक्रिया के जरिए मुझे काफी कुछ सीखने का मौका मिला। यह वृत्तचित्र डीडी भारती पर अब तक 6 बार प्रसारित हो चुका है और जयपुर के आयोजन में इसी वृत्तचित्र को खचाखच भरे सभागार में सुधी दर्शकों ने देखा।

वृत्तचित्र में अज्ञेय, जिनके मौन पर काफी कुछ लिखा-कहा गया है, अपनी पूरी मुखरता और व्यक्तित्व के सभी रंगों में सजे-धजे उपस्थित हैं। दिल्ली (विंडसर प्लेस), नैनादेवी, कुशीनगर, रानीखेत, नैनीताल आदि में अज्ञेय के साथ घूमते कैमरे ने उनकी उन्मुक्त छवियों को पकड़ा था। वे पत्तों, पेड़ों, फूलों से, झरनों से, तिनकों, बहते जल, पर्वत मालाओं, चीड़-वनों, पहाड़ी बस्तियों, वहां के निवासियों के साथ थे—हँसते-बतियाते-सोचते-गुनगुनाते, मौन-मुखर, चिंतन-मुद्राओं में, लिखते-पढ़ते, टहलते, विश्राम करते।

उन्होंने अपनी कई मनपसंद कविताएं सुनाईं, कला, साहित्य, समय-समाज, देश-दुनिया के बारे में, संपादन-पत्रकारिता के बारे में, रुचियों के बारे में, अपनी योजनाओं के बारे में, प्रकृति के बारे में विस्तार से बताया। कवि मौन बैठा है, लेकिन वातावरण से स्वर फूट रहे हैं—

चुपचाप/चुपचाप/चुपचाप/झरने का स्वर हममें भर जाए/चुपचाप...चुपचाप.../शरद की चांदनी झील की लहरों पर तिर आए/चुपचाप... चुपचाप.../ जीवन का रहस्य जो कहा न जाए/ हमारी ठहरी आंखों में गहराए।

फिर एक पार्श्व स्वर उभरता है—''मैं कवि हूं। दृष्टा, उन्मेष्टता/संधाता/अर्थवाह मैं कृतज्ञ। मैं सच लिखता हूं। लिख-लिखकर सब झूठा करता जाता हूं।''

फिर एक और स्वर—''कवि जब पेड़ के पास से गुजरता है, पेड़ सहमते लगते हैं। क्यों पेड़ क्या हुआ?''

स्त्री स्वर उभरता है—''तुम कवि हो ना?''

पुरुष स्वर—''हां, वन-प्रकृति का भक्त हूं। फिर जैसे पेड़ ही कवि-शब्द बोलता है—''लिखो, खूब लिखो, छपेगा तो मुझ पर ही ना?''

...फिर एक स्थल पर विद्यानिवास मिश्र अज्ञेय से मुखातिब हैं। कह रहे हैं—''भाई, कहना मैं ये चाहता था कि आप हैं गड़बड़ आदमी...। आप ऐसे पागल आदमी हैं कि कभी साहित्यिकों को जुटाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, कभी पत्रिकाएं निकालते हैं, खुद जुटते हैं, औरों को जुटाते हैं। ज्ञानपीठ से पुरस्कार से मिली रकम में उतनी ही रकम जोड़कर वत्सल निधि न्यास की स्थापना कर दी। तारसप्तक-आयोजन तो किया ही था। आपको इन सबमें क्या मजा आता है? अज्ञेय मुस्कुराते हैं, फिर खुलकर हँसते हैं। कहते हैं—''एक तो लिखने में क्या मजा आता होगा अगर उसे पढ़ने-सुनने वाले न हों। मेरे समकालीन सब लोग संक्रांति...संक्रांतिकाल की बात करते थे, कुछ अब भी करते हैं, लेकिन अगर संक्रमण है तो किससे, किसमें? और किस तरह साहित्य का स्वयं अपने पाठक से संबंध बदल रहा है? एक पाठक उससे छिन रहा है और दूसरा पाठक अगर कोई बनाएगा, तो वो साहित्य या साहित्यकार ही बनाएगा। तो समकालीनों का ध्यान शायद इसकी ओर नहीं था। मैं शुरू से सोचता हूं कि ये काम भी मेरे द्वारा होता रहा कि साहित्य में बहुत-सी चीजों के प्रति विद्रोह भी किया, लेकिन उस विद्रोह-भावना के समर्थक भी खोजे और जिस चीज के लिए वह विद्रोह था, कोई अर्थहीन विद्रोह तो नहीं था, वह जिस चीज के लिए था, उसके प्रति लोगों का सम्मान भी बढ़े, ये प्रयत्न भी मैं करता रहा। एक बात मैं यह कहना चाहता था कि साहित्यकारों में प्रायः और हिंदी में विशेष रूप से कुछ ऐसा मनोभाव रहा कि साहित्य, साहित्यकार तो बाकी दुनिया से अलग एक निराला प्राणी है ही, साहित्य भी जैसे कि दूसरी रचनात्मक अभिव्यक्तियों से कुछ अलग किस्म की चीज है और अगर कोई कवि है तो उसका अपने समय के चित्रकार, संगीतकार, शिल्पकार से कोई मतलब नहीं है। हालांकि अगर संवेदन में कोई परिवर्तन हो रहा है समाज के, तो उसका प्रतिबिंब सब चीजों में होना चाहिए। जो भी, नई अवधारणा भी करेंगे, तो सब मिलकर करेंगे, क्योंकि कुछ चीजें ऐसी होंगी, जो कि प्रत्येक विधा के लिए अलग होंगी, लेकिन बहुत-सी चीजें होंगी, जो सबके लिए समान होंगी।''

'...अज्ञेय ने और बहुत कुछ कहा, जो आर्काइव द्वारा तैयार होने वाली पुस्तक में आएगा ही। इसी वृत्तचित्र में डॉ. नामवर सिंह कहते हैं—''लगभग आधी शताब्दी के साहित्य-सृजन के उपरांत इसके बारे में कोई दो राय नहीं हो सकती कि अज्ञेय हिंदी साहित्य की विभूति हैं। उनका स्थान सुरक्षित है और उनका ऐतिहासिक तथा स्थायी महत्त्व है।''

159, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110092, मो. 09868240906

इतिहास के प्रवाह में

अनंत विजय

जब भगत सिंह और उनके साथियों को फांसी दी गई तो महात्मा गांधी ने कहा था—भगत सिंह और उनके साथियों को फांसी दे दी गई और वो शहीद हो गए। उनकी मौत कई लोगों के लिए व्यक्तिगत क्षति है। मैं भी इन तीन नौजवानों को श्रद्धांजलि देता हूं, लेकिन मैं देश के युवाओं को चेतावनी भी देना चाहता हूं कि वो उनके पदचिह्नों पर न चलें । हमें अपनी ऊर्जा, त्याग करने का जज्बा, अपनी मेहनत और अदम्य साहस को भगत सिंह और उनके साथियों की तरह इस्तेमाल नहीं करना है। हमें खून-खराबा से आजादी नहीं मिल सकती है। —यह बात सर्वविदित है कि गांधीजी न केवल अहिंसा की वकालत करते थे, बल्कि अहिंसक तरीके से काम करने में यकीन भी रखते थे, लेकिन कई ऐसे अवसर भी आए, जब गांधीजी ने भी हिंसा का सहारा लिया और उसकी वकालत भी की। बहुत ही दिलचस्प वाकया है। 1895 में उनके डरबन के घर पर उनके दोस्त शेख महताब ने एक वेश्या को बुला लिया। गांधी को पता चला तो वो भड़क गए। ना केवल जबरदस्ती कमरे का दरवाजा खुलवाया, बल्कि मेहताब की बांह मरोड़कर उन्हें घर से निकल जाने का हुक्म भी दिया। मेहताब के मना करने पर पुलिस बुलाने की धमकी भी दी। उसी तरह 1898 में जब बा से विवाद हुआ, बहस बढ़ गई और कस्तूरबा ने जवाब दे दिया तो गांधी उन्हें लगभग घसीटते हुए घर के गेट तक ले गए और धकेलते हुए वहां से निकल जाने का फरमान सुना दिया। तीसरा वाकया है जोहानिसबर्ग का, जहां उनकी सेक्रेटरी सेलसिन ने उनके कमरे में सिगरेट सुलगा ली तो गांधी बिफर गए और उसको एक झन्नाटेदार थप्पड़ रसीद कर दिया। इस तरह के कई उदाहरण मौजूद हैं, जहां गांधी ने हिंसा का सहारा लिया। लेकिन इसके विपरीत उस तरह के भी अनेक उदाहरण मौजूद हैं, जहां गांधी ने पिटने और घोर अपमानित होने के बावजूद बल प्रयोग नहीं किया। ये मोहनदास के व्यक्तित्व के दिलचस्प पहलू हैं। गांधी ने क्यों ऐसा किया और फिर बाद में किस तरह से उन्होंने अपने को बदल लिया, इस बात को और उनके उनके जटिल और बहुआयामी व्यक्तित्व को परखा है उनके ही पौत्र गोपाल कृष्ण गांधी ने अपनी नई किताब में। आधुनिक भारत के इतिहास में या यों कहें कि बीसवीं शताब्दी के विश्व इतिहास में महात्मा गांधी एक ऐसी शख्सियत हैं, जिनके बहुआयामी व्यक्तित्व की गुत्थी सुलझाना विद्वानों के लिए एक बड़ी चुनौती है। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व के इतने सिरे हैं कि एक को पकड़ो तो दूसरा छूट जाता है। गांधी विश्व के इकलौते ऐसे शख्स हैं, जिनकी मृत्यु के तिरसठ साल बाद भी उन पर और उनके विचारों और लेखन पर लगातार शोध और लेखन हो रहा है। खुद गांधी के परिवार के सदस्यों ने उन पर कई किताबें लिखी हैं। चाहे वो राजमोहन गांधी हों या तुषार गांधी।

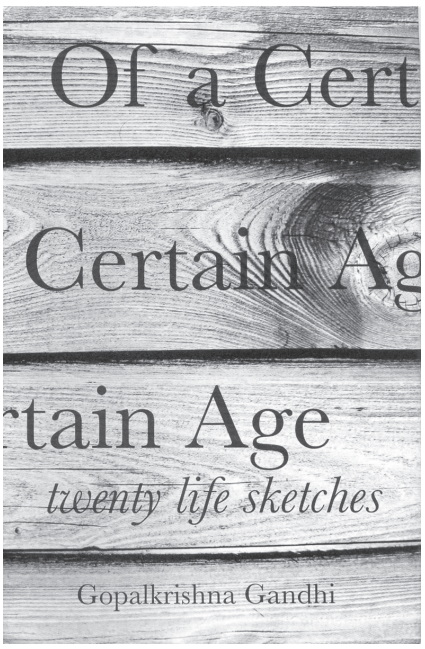

समीक्ष्य पुस्तक ऑफ अ सर्टेन एज ट्वेंटी लाइफ स्केचेज—गोपाल कृष्ण गांधी की नई किताब है। इस किताब में आधुनिक भारत की बीस हस्तियों के जीवन पर गोपाल कृष्ण गांधी ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों को आधार बनाकर लंबी टिप्पणी लिखी है । चूंकि इन लेखों में व्यक्तिगत अनुभव का छौंक है, इस वजह से ये बेहद दिलचस्प होने के साथ-साथ प्रामाणिक भी हैं। ये बीस लेखनुमा टिप्पणी समय समय पर लिखी गई है। इस किताब की भूमिका में लेखक ने स्वीकार किया है कि उनके ये लेख 1981 से 2001 के बीच लिखे गए हैं। अभी कुछ दिनों पहले ही इतिहासकार और स्तंभकार रामचंद्र गुहा की भी एक किताब—मेकर्स ऑफ मॉडर्न इंडिया प्रकाशित हुई थी। गुहा ने अपनी किताब में उन्नीस लोगों पर लिखा था । रामचंद्र गुहा के मुताबिक उन्होंने उन महिला और पुरुष नेता या सामाजिक कार्यकर्ता या समाज सुधारक को अपनी किताब में जगह दी, जिन्होंने स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर भारत को अपने लेखन और भाषण से गहरे तक प्रभावित किया । लेखक के मुताबिक ये उन्नीस भारतीय लोग सिर्फ राजनेता ही नहीं थे, बल्कि उन्होंने अपने लेखन से भी समाज और देश को एक नई दिशा दी, लेकिन गोपाल कृष्ण के चयन का आधार अलहदा है, शैली भी जुदा और ज्यादा रोचक। गोपाल कृष्ण गांधी की भाषा को हम कोलोनियल इंगलिश

की श्रेणी में रख सकते हैं। इन संस्मरणों की एक ताकत गोपाल कृष्ण गांधी की भाषा भी है।

गोपाल कृष्ण गांधी के संस्मरणों की इस किताब की विशेषता यह है कि इसमें आजाद भारत की प्रमुख हस्तियों के बारे में कुछ बेहद ही दिलचस्प और अज्ञात तथ्य सामने आते हैं। इस किताब में गांधी के बाद सबसे दिलचस्प संस्मरण या कहें कि जीवनीचित्र जयप्रकाश नारायण का है। जयप्रकाश नारायण को गांधीजी जमाई राजा मानते थे, क्योंकि उच्च शिक्षा के लिए जयप्रकाश के अमेरिका चले जाने के बाद प्रभावतीजी गांधी के साथ वर्धा में ही रहने लगी थी और बा और बापू दोनों उन्हें पुत्रीवत स्नेह देते थे। दरअसल जयप्रकाश नारायण की पत्नी प्रभावती डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद के भाई की लड़की थी। वर्धा के आश्रम में रहने के दौरान बापू और कस्तूरबा दोनों उन्हें अपनी बेटी की तरह मानने लगे। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान गांधीजी और कस्तूरबा को पुणे के आगा खान पैलेस में कैद कर लिया गया। वहां बा की तबीयत बिगड़ गई तो गांधी ने 6 जनवरी, 1944 ने अधिकारियों को पत्र लिखकर अनुरोध किया कि दरभंगा जेल में बंद प्रभावती देवी को पुणे जेल में स्थानांतरित किया जाए ताकि कस्तूरबा की उचित देखभाल हो सके । उस पत्र में गांधी ने लिखा कि प्रभावती उनकी बेटी की तरह हैं (she is like a daughter to ने)।

लेकिन गांधी और जयप्रकाश के बीच की पहली मुलाकात और भी दिलचस्प है। तकरीबन सात साल बाद जब जयप्रकाश नारायण अमेरिका में अपनी पढ़ाई खत्म कर भारत लौटे तो अपनी पत्नी से मिलने वर्धा गए, जहां वो गांधी के सान्निध्य में रह रही थीं। पहली मुलाकात में गांधी ने जयप्रकाश से देश में चल रहे आजादी के आंदोलन के बारे में कोई बात नहीं की, बल्कि उन्हें ब्रह्मचर्य पर लंबा उपदेश दिया। बताते हैं कि गांधीजी ने प्रभावतीजी के कहने पर ही ऐसा किया क्योंकि प्रभावतीजी शादी तो कायम रखना चाहती थी, लेकिन ब्रह्मचर्य के व्रत के साथ। जयप्रकाश नारायण ने अपनी पत्नी की इस इच्छा का आजीवन सम्मान किया। तभी तो गांधीजी ने एक बार लिखा—मैं जयप्रकाश की पूजा करता हूं । गांधीजी की ये राय 25 जून, 1946 के दैनिक हिंदुस्तान में प्रकाशित भी हुई थी। गांधी से जयप्रकाश का मतभेद भी था, गांधी जयप्रकाश के व्यक्तित्व में एक प्रकार की अधीरता भी देखते थे, लेकिन बावजूद इसके वो कहते थे कि जयप्रकाश एक फकीर हैं जो अपने सपनों में खोए रहते हैं। गोपाल कृष्ण गांधी ने इन तथ्यों के आधार पर गांधी और जयप्रकाश के वयक्तित्व का विश्लेषण भी किया है। गोपालकृष्ण की शानदार भाषा का एक और नमूना—प्रभावती और कमला नेहरू दो असमान परिवेश की महिला, लेकिन दोनों में एक समानता—दोनों के पति इलाहाबाद के स्वराज भवन की तरह देश की संपत्ति थे।

मोहनदास करमचंद गांधी के बड़े बेटे हरीलाल पर भी गोपाल कृष्ण का आकलन कुछ ज्ञात और अज्ञात तथ्यों के साथ सामने आता है। हरीलाल गांधी न केवल अपने पिता के साथ कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष कर रहे थे बल्कि उनके विकल्प के तौर पर भी उभर रहे थे और दक्षिण अफ्रीका में लोग उन्हें छोटे गांधी भी कहने लगे थे। लेकिन बाद में पिता पुत्र के बीच मतभेद गहरा गए। गांधी का अपने बेटे की जगह एक पारसी युवक सोराबजी को बैरिस्टरी की पढ़ाई के लिए भेजने का फैसला हरीलाल को चुभ गया। यह घाव इतना गहरा हुआ कि उसने बापू समेत सबकुछ त्याग दिया। थोड़े समय के लिए इस्लाम भी स्वीकार कर लिया। यह तो ज्ञात तथ्य है और कई विद्वानों ने इस पर लिखा है। कुछ दिनों पहले मैंने दिनकर जोशी की किताब में महात्मा बनाम गांधी में इस पर विस्तार से पढ़ा था। लेकिन समीक्ष्य पुस्तक में हरीलाल के भाई देवदास का हिंदुस्तान टाइम्स में लिखा संपादकीय भी है। देवदास गांधीजी के पुत्र थे और बाद में हिदुस्तान टाइम्स के संपादक भी रहे। इस किताब में एच. वाई. शारदा प्रसाद के हवाले से हरीलाल के बारे में एक नोट है। 30 जनवरी, 1948 की रात मुंबई से निकलनेवाले अखबार नेशनल स्टैंडर्ड के दफ्तर में करीब रात के दस बजे एक अधेड़ व्यक्ति हाथ में एक कागज लेकर पहुंचा। जब शारदा प्रसाद ने उनसे पूछा कि क्या है, तो उसने कहा कि बापूजी को श्रद्धांजलि का लेख। शारदा प्रसाद ने जवाब दिया कि आज हर कोई, बापू को श्रद्धांजलि का लेख लिखने को बेताब है तो उस व्यक्ति ने जवाब दिया कि मैं हर कोई नहीं बल्कि उनका बेटा हूं। शारदा प्रसादजी को अब इस बात का अफसोस है कि उस वक्त सारा कामकाज छोड़कर हरीलाल को तवज्जो देनी चाहिए थी, लेकिन कॉपी एडिटिंग के चक्कर में उन्होंने हरीलाल का मसला अपने रिपोर्टर वी. एस. वी. राव को सौंप दिया। उस दिन के अखबार में हरीलाल की छोटी सी श्रद्धांजलि छपी भी, लेकिन उसका कुछ भी शारदा प्रसाद को याद नहीं। कहीं न कहीं तो नेशनल स्टैंडर्ड का उस दिन का अंक मौजूद होगा और यह जानना बेहद दिलचस्प होगा कि तमाम असहमतियों और आपसी मतभेद के बावजूद एक बेटे ने अपने पिता को किस तरह से याद किया ।

इन तीन के अलावा गोपालकृष्ण गांधी ने और सत्रह लोगों पर लिखा है, जिनमें खान अब्दुल गफ्फार खान, हरीलाल गांधी, प्यारेलाल, ज्योति बसु, पुपुल जयकर, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, सुबुलक्ष्मी, दलाई लामा, सिरिमाओ भंडारनायके, आर. वेंकटरमण और के.आर. नारायण शामिल हैं। अपनी इस किताब के अंत में अपने बचपन के दिनों को भी गोपालकृष्ण गांधी ने शिद्दत के साथ याद किया है, दिल्ली की हिंदुस्तान टाइम्स बिल्डिंग में उन दिनों वो अपने पिता देवदास, जो हिंदुस्तान टाइम्स के संपादक थे, के साथ रहा करते थे। पांच कमरों के फ्लैट के कई दिलचस्प किस्से इस किताब में हैं। कहना ना होगा कि सेंट स्टीफन से अंग्रेजी साहित्य में एम. गोपाल कृष्ण गांधी की भाषा में एक प्रवाह है, जो इन संस्मरणों को एक नई उंचाई देता है और महानुभावों के व्यक्तित्व के कुछ अनछुए पहलुओं को उद्घाटित भी करता चलता है। अंग्रेजी में संस्मरण साहित्य की बेहद समृद्ध परंपरा है और मेरा मानना है कि गोपाल कृष्ण गांधी की ये किताब उसे और समृद्ध करेगी।

ऑफ अ सर्टेन एज—ट्वेंटी लाइफ स्केचेज, गोपाल कृष्ण गांधी, पेंगुइन वाइकिंग, 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017, मूल्य : ₹ 499

आरटी-222, रॉयल टॉवर, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद, उत्तरप्रदेश-201014, मो. 09817697248 ईमेल-anant-ibn@gmail.com

साहित्य : दृश्य-परिदृश्य

यह नया स्तंभ 'हंस' में दो दशकों तक निरंतर प्रकाशित मेरे स्तंभ 'समकालीन सृजन-संदर्भ का स्थापन्न है भी और नहीं भी है। यह मात्र सुखद संयोग है कि 'हंस' में स्तंभ बंद होते-होते कुछ पत्रिकाओं के अच्छे अंक और कुछ अच्छी पुस्तकें मिलीं, जिन्होंने 'पुस्तक-वार्ता' के पाठकों से साझीदारी करने के लिए मुझे उकसाया ही नहीं, विवश भी किया। इस स्तंभ में पत्रिकाओं के नए अंक पर टिप्पणी, इधर प्रकाशित चयनित नई पुस्तकों की सूची, साहित्यिक-प्रसंग, यात्रा-स्मृति, साहित्यकारों के पत्र के साथ महत्वपूर्ण गोष्ठी और विवाद भी होंगे।

पाखी (सितम्बर 2011—राजेन्द्र यादव पर केंद्रित), संपादक—प्रेम भारद्वाज, संपर्क : इंडिपेंडेंट मीडिया इनिशिएटीव सोसायटी, बी-109, सेक्टर-63, नोएडा-201303, मूल्य यह अंक—₹ 70

इस नई पत्रिका ने प्रकाशन के तीसरे वर्ष के समापन पर सृजन की दो ऊँची उड़ानें भरने का प्रयास किया है। पिछले वर्ष हिंदी के शीर्ष आलोचक डॉ. नामवर सिंह और अब नया अंक हिंदी के प्रतिष्ठित कथाकार और 'हंस' के संपादक पर केंद्रित करके। इसके पूर्व राजेंद्र यादव पर आगे-पीछे दो पुस्तकें—'हमारे युग का खलनायक राजेन्द्र यादव' और '23 लेखिएं और राजेंन्द्र यादव'—निकलीं। जिस तरह रचना की प्रक्रिया जटिल होती है, उसी तरह लेखक का जीवन भीं। हम बार-बार लेखक की कृति और उसके व्यक्तित्व की अदृश्य गांठें खोलने का प्रयास करते हैं। इस अंक में कुछ पुरानी सामग्री है तो बहुत कुछ नया भी है। खासकर राजेन्द्र यादव पर यह आरोप कभी भी नहीं लगाया जा सकता है कि वे रचनाएं छापने में विनिमय करते हैं। सुधा अरोड़ा से लंबे साक्षात्कार और मैत्रेयी पुष्पा से अपूर्व जोशी और प्रेम भारद्वाज की लंबी बातचीत में कुछ अटपटे और निरर्थक सवाल पूछ गए। यदि इन दोनों बातचीत को साधना अग्रवाल के लेख 'खलनायक की असली कहानी' से जोड़कर पढ़ेंगे तो दिलचस्प निष्कर्ष निकलेंगे। सुधा अरोड़ा ने यह गलत टिप्पणी की है कि 'हंस' संपादक ने तेजेन्द्र शर्मा की कहानी 'कल फिर आना' को आयातित शराबों की बोतलें लेकर छापा। मैनेजर पांडेय के लेख के साथ और भी बहुत कुछ पठनीय है। संपादक ने निष्ठापूर्वक निर्भीकता के साथ राजेंद्र यादव के व्यक्ति और कृतित्व को प्रस्तुत करने का श्रमसाध्य काम किया है। यह अलग बात है कि इससे उनके 'खलनायक' की छवि टूटी भी और साथ ही दृढ़ भी हुई है। समानांतर एक 'खलनायिका' की छवि भी सामने आई है।

समीक्षा (जुलाई-सितम्बर 2011), संपादक सत्यकाम, प्रकाशक—सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, मूल्य : एक अंक—₹ 30

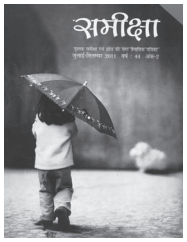

डॉ. गोपाल राय के संपादन में पटना से जुलाई 1967 में जब यह त्रैमासिक पत्रिका निकली थी, मैं एम.ए. (अंतिम वर्ष) का विद्यार्थी था। 'आलोचना' के बाद तब इस पत्रिका ने धूम मचाई थी। बल्कि इस पत्रिका ने हिंदी के कई उभरते समीक्षकों का पथ प्रशस्त किया। आवर्तिता बदलते हुए यह पत्रिका फिर संपादक के साथ दिल्ली आ गई। डॉ. राय ने यह अच्छा किया कि पत्रिका की लौ मंद होने से पूर्व इसे अपने सक्षम और सुयोग्य उत्तराधिकारी सत्यकाम को सौंप दिया। अब यह पत्रिका अपने आरंभिक दिनों के आक्रामक तेवर के साथ युवा कर्मठ प्रकाशक एवं प्रबंध संपादक महेश भारद्वाज के प्रयास से नई चमक-दमक के साथ निकल रही है। यह प्रसन्नता की बात है कि 'समीक्षा' ने अपनी खोई प्रतिष्ठा फिर से प्राप्त की है और आज निकल रही पत्रिकाओं में उल्लेखनीय है क्योंकि नए संपादक में कल्पनाशीलता के साथ साहित्य के बारे में साफ-सुथरा विजन तो है, ही महत्वपूर्ण पुस्तकों पर समीक्षा देने की खुली और संतुलित दृष्टि भी।

परिकथा (जुलाई-अगस्त 2011), संपादक—शंकर, संपर्क—96, बेसमेंट, फेज-।।, इरोज गार्डन, सूरजकुंड रोड, नई दिल्ली-110044, मूल्य—₹ 35

'समय और समाज की परिक्रमा' करने वाली द्वैमासिक पत्रिका 'परिकथा', 'अब' के अनुभवी संपादक शंकर की परिष्कृत रुचि के साथ पिछले छह वर्षों से नियमित निकल रही है। 'युवा यात्रा' शृंखला में युवा आलोचना पर केंद्रित पत्रिका का यह पांचवां अनुष्ठान है। इससे किसी का विरोध नहीं हो सकता कि आप नवलेखन या युवा लेखन पर लगातार अंक निकालें। शिकायत तब होती है जब प्राप्त रचनाओं का संपादन नहीं होता है। प्रस्तुत अंक में 'समकालीन सांस्कृतिक परिदृश्य और युवा आलोचना' पर एक विचारोत्तेजक परिचर्चा आयोजित है, जिसमें 10 प्रश्न पूछे गए थे। अजय वर्मा ने जिनके जवाब 6 पृष्ठों में दिए हैं। हैरानी की बात यह है कि उन्होंने 3 प्रश्नों के जवाब 5 पृष्ठों में

दिए हैं और शेष 7 प्रश्नों के जवाब एक पृष्ठ में। उनके जवाब में विषयांतर ही नहीं, उलझाव भी है। सही बात यह है कि हिंदी आलोचना के बारे में उनकी दृष्टि धुंधली है। उन्होंने अलग से भी 'समकालीन विमर्श और युवा आलोचना' पर फिर 5 पृष्ठ का लेख लिखा है। मुझे लगता है, किसी साहित्यिक प्रवृत्ति और किसी विधा के बारे में जब आपकी राय-अवधारणा साफ नहीं होती, आप भटकते हैं और भोले-भाले पाठकों को भी दाएं-बाएं करते-भरमाते हैं। युवा आलोचकों को कॉडवेल की पुस्तक 'मिथ एंड रियलिटी' (विभ्रम और यथार्थ) पढ़नी चाहिए। वैसे शंकर की संपादकीय निष्ठा और समर्पण का मैं कायल हूँ।

कृति ओर (अप्रैल-सितम्बर 2011), संपादक—रमाकांत शर्मा, संपर्क : 'संकेत', ब्रह्मपुरी—प्रताप मंडल, जोधपुर-342001 (राजस्थान), मूल्य—₹ 20.00

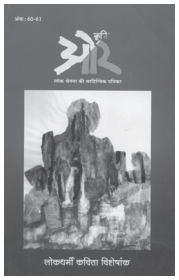

छोटी (लघु) पत्रिका आंदोलन के दौरान सातवें दशक में राजस्थान से निकलने वाली अनेक पत्रिकाओं में—संबोधन, ओर (अब कृति ओर) और संप्रेषण अब भी निकल रही हैं। विजेंद्र ने भरतपुर से 'ओर' का प्रकाशन शुरू किया था। बाद में जयपुर आने के बाद यह 'कृति ओर' हुआ। उन्होंने अच्छा किया कि इस पत्रिका का संपादन भार डॉ. रमाकांत शर्मा (जोधपुर) को सौंप दिया। पत्रिका का प्रस्तुत अंक 'लोकधर्मी कविता' विशेषांक है। यह अच्छा अंक है। लेकिन कविताओं के चुनाव में सावधानी नहीं बरती गई है। अंततः कविता कविता होती है। जब आप इसे जनधर्मी या लोकधर्मी समझकर चुनाव करते हैं, तो आप एक आंख बंद कर लेते हैं। फिर भी यह एक सराहनीय प्रयास है।

प्रसंग-16 (2011), संपादक—शंभु बादल, संपर्क : सूरजघर, जबरा रोड, कोर्रा, हजारीबाग-825301 (झारखंड), मूल्य : ₹ 50

सोवियत संघ के पतन के बाद जिन लोगों को यह मुगालता है कि मार्क्सवाद खत्म हो गया, वे विभ्रम की स्थिति में हैं। जब तक

दुनिया में गरीबी और शोषण है, मार्क्सवाद की प्रासंगिकता बनी रहेगी। इधर एक बात से मुझे चिढ़ होती है—अधिकांश पत्रिकाएं जन, लोक और प्रगतिशील होने का दावा करती निकलती हैं। पत्रिकाओं के उपशीर्षक से ही नहीं, बल्कि रचनाओं के भीतर से भी जन, लोक और प्रगतिशीलता की ध्वनि निकलनी चाहिए। 'आर्यकल्प' के संस्मरण—आत्मकथा विशेषांक के बाद प्रस्तुत पत्रिका के संस्मरण विशेषांक में अनेक उल्लेखनीय और पठनीय सामग्री है। मैं राणाप्रताप द्वारा लिखित अभी दिवंगत हुए मेरे आकाशधर्मा गुरु इतिहासकार प्रो. राम शरण शर्मा पर लिखे उनके संस्मरण के लिए उन्हें साधुवाद चाहता हूँ।

तहलका (31 अगस्त, 2011), संपादक—तरुणजीत तेजपाल, संपर्क : एम-76, एम-ब्लॉक मार्केट, ग्रेटर कैलाश-2, नई दिल्ली-110046, मूल्य : ₹ 10

इस पाक्षिक पत्रिका को राजनीति में स्टिंग ऑपरेशन से जैसी शोहरत मिली उसका फायदा उठाते हुए यह कभी-कभी साहित्यिक दुनिया में भी सार्थक हस्तक्षेप करती है। अभी पत्रिका ने अपने आवरण पृष्ठ पर 'साहित्य के सामंत' शीर्षक के अंतर्गत हिंदी के चार मठाधीशों—राजेंद्र यादव, नामवर सिंह, अशोक वाजपेयी और रवींद्र कालिया को केंद्र में रखकर दिनेश कुमार की विचारोत्तेजक रिपोर्ट प्रस्तुत की है जो बेहद दिलचस्प है। सच बोलने के अनेक खतरे होते हैं और 'तहलका' इस खतरे को सामने लाने से गुरेज नहीं करती। यह अच्छी बात है। लेकिन इस रिपोर्ट में प्रसिद्ध इतिहासकार डी.डी. कौशांबी की पुस्तक 'मिथक और यथार्थ' (The Myth & Reality) का सम्मिश्रण है। दिनेश कुमार को शायद नहीं मालूम कि साहित्य के कुछ सामंत विश्वविद्यालयों, पुरस्कार समितियों और अकादेमियों में भी बैठे हैं, जो साहित्य को पथभ्रष्ट कर रहे हैं। फिर भी, तहलका का यह प्रयास प्रशंसनीय है। आशा है, भविष्य में शायद उधर भी वे दृष्टि डालेंगे।

पुनर्नवा (अर्धवार्षिक 2011), संपादक—संजय गुप्ता, सह संपादक—राजेंद्र राव, संपर्क : दैनिक जागरण, 2, सर्वोदय नगर, कानपुर-208005, मूल्य : ₹ 10

सचमुच यह हिंदी साहित्य का परम सौभाग्य है कि कुछ दैनिक समाचार-पत्रों के संपादक की अनुकंपा से कभी-कभार उनकी विशिष्ट प्रस्तुतियों में साहित्य की दुनिया भी कौंधती है। अभी दैनिक जागरण की विशिष्ट प्रस्तुति—पुनर्नवा आई है, जिसमें 'क्या कथा साहित्य में विषय वैविध्य का अभाव है?' पर विचारोत्तेजक परिचर्चा आयोजित है। इसी अंक में 'हिंदी का लोकप्रिय साहित्य' पर लम्बा आलेख भी है। राजेंद्र राव की देख-रेख में 'पुनर्नवा' का यह अंक पठनीय ही नहीं, संग्रहणीय भी है।

रचना समय (मई 2011, कविता विशेषांक), संपादक—बृजनारायण शर्मा/ हरि भटनागर, इस अंक का अतिथि संपादन—नरेश सक्सेना, सम्पर्क : 197, सेक्टर-बी, सर्वधर्म कॉलोनी, कोलार रोड, भोपाल-462042, मूल्य : ₹ 100

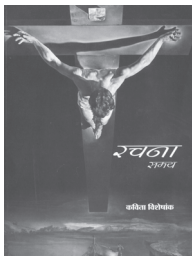

'रचना समय' अनियमित निकलती है लेकिन पिछले वर्षों में विदेशी लेखकों और हिंदी की अनेक विधाओं पर अंक निकालकर इसने हिंदी समाज में जिस तरह विश्वसनीयता बनाई है, उससे किसी को भी स्पृहा हो सकती है। पत्रिका के प्रस्तुत कविता विशेषांक, का संपादन हिंदी के वरिष्ठ कवि नरेश सक्सेना ने पश्रिमपूर्वक मनोयोग से किया है। इसकी प्रशंसा की जानी चाहिए क्योंकि इसमें हमारे समय का कोई महत्वपूर्ण कवि—आलोकधन्वा, ज्ञानेंद्रपति, मनमोहन, श्याम कश्यप—को छोड़कर छूटा नहीं है। संकलित कविताएँ— कवि—ठीक-ठाक हैं। लेकिन बार-बार उन्हीं कवियों से बातचीत-

सवाल, और मेरी प्रिय कविताएँ में दुहराव है।

समकालीन कविता आज पहचान के संकट से गुजर रही है। यही कारण है कि बुरी कविताओं ने हमारे समय की अच्छी कविताओं को आच्छादित कर लिया है। अपने संपादकीय में नरेश सक्सेना ने अरुण कमल की एक पंक्ति से समकालीन आलोचना पर रोशनी फैलाने की बात की है—'मेरा एक पश्चाताप यह है कि मैंने खराब कविताओं की तारीफ की।' सच यह भी है कि कई अच्छे आलोचकों ने उनकी खराब कविताओं की तारीफ की है। फिर भी कुल मिलाकर यह अंक अच्छा है।

नए प्रकाशन (चयन)

1. अज्ञेय सहचर, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, किताबघर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 695
2. तुलसीदास (आलोचना), नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 200
3. नौ लम्बी कहानियाँ, सं. रवींद्र कालिया, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 270
4. चार दरवेश (उपन्यास), हृदयेश, वही, मूल्य : ₹ 170
5. सातवीं औरत का घर (कहानी), नीला प्रसाद, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, मूल्य : ₹ 225
6. आदमी का डर (कहानी), शेखर जोशी, भारतीय ज्ञानपीठ, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 190
7. कथा-समय में तीन हमसफर (आलोचना), निर्मला जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 300
8. आलोचना का नया पाठ (निबंध), गोपेश्वर सिंह, किताबघर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 425
9. खबरें और अन्य कविताएं, गंगा प्रसाद विमल, वही, मूल्य : ₹ 175
10. प्रकाश की बहती नदी (मधुरेश पर एकाग्र), सं. विश्वरंजन, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-32, मूल्य : ₹ 1000
11. हिंदी के रचनाकार आलोचक (शोध), योगेश प्रताप शेखर, प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, ₹ मूल्य : 500
12. नदी जो अब भी बहती है (कहानी), कविता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 250
13. एक भूमिगत आदमी की कहानी, फ्योदर दस्तायेवास्की, अनुवाद : योगेश भटनागर, लोकशिक्षा मंच, 1/11052-ए, सुभाष पार्क, शाहदरा, दिल्ली-1100032, मूल्य : ₹ 500
14. मीडिया का अंडरवर्ल्ड, दिलीप मंडल, राधाकृष्ण प्रकाशन, 7/31, अंसारी, रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 350
15. समकालीन कहानी का नया परिप्रेक्ष्य (आलोचना), पुष्पपाल सिंह, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 795

भारत भारद्वाज

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से प्रकाशित पत्रिकाओं के नए अंक

जुलाई-सितंबर 2011, मूल्य : ₹ 100

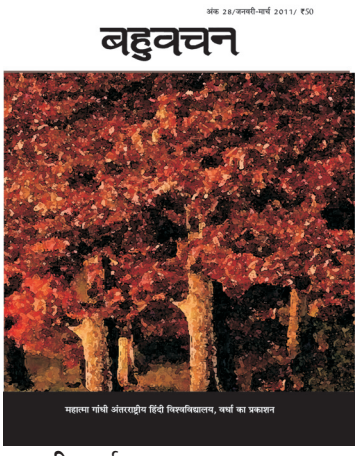

जनवरी-मार्च 2011, मूल्य : ₹ 50

सितंबर-अक्तूबर 2011, मूल्य : ₹ 20

ज्ञान शांति मैत्री

पत्रिका की सदस्यता के लिए संपर्क करें :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र) फोन : 07152-232200, 232306